४७ शक्तियाँ और ४७ नय

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

४७ शक्तियाँ और ४७ नय

लेखक :

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पीएच.डी.

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२ ०१५

प्रथम संस्करण (२५ मार्च, २००८) ५ हजार

मूल्य : आठ रुपए

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

१. श्री कैलाशचंदजी जैन, ठाकुरगंज	५०००.००
२. श्रीमती मैनादेवी ध.प. मदनलालजी पाटनी, मुम्बई	५०००.००
३. श्री शान्तिलालजी जैन, जयपुर	११००.००
४. श्री नरेन्द्रकुमारजी जैन, खतौली	११००.००
५. श्री शान्तिलालजी जैन, खेड़ीवाले, उदयपुर	११००.००
६. श्री निर्मलकुमारजी जैन, अहमदाबाद	१००१.००
७. श्रीमती मीराबेन, प्रफुल्लचंदजी शाह, मुम्बई	१००१.००
८. श्री फूलचन्दजी पाटनी, कोलकाता	१००१.००
९. श्रीमती भूरीदेवी ध.प. कचरुलालजी मेहता, उदयपुर	१०००.००
१०. श्री बालचन्दजी पाटनी, कोलकाता	१०००.००
११. श्रीमती पुष्पाबाई छगनलालजी भण्डारी, चैन्नई	१०००.००
१२. श्रीमती निशा जैन ध.प. सुरेशचन्दजी जैन, भोपाल	१०००.००
१३. श्रीमती शीलाबाई जैन, विदिशा	१०००.००
१४. श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	५०१.००
१५. श्रीमती कुसुम जैन ध.प. विमलकुमारजी जैन 'नीरू केमिकल्स', दिल्ली	५०१.००
१६. श्रीमती ज्योतिबेन मनुभाई मेहता, राजकोट	५०१.००
१७. श्रीमती अनिलाबेन विजयकुमारजी गांधी, नातेपुते	२५१.००
१८. श्री धमेन्द्रकुमार नवीनकुमारजी जैन, दिल्ली	२५१.००
१९. श्रीमती रश्मिदेवी वीरेशजी कासलीवाल, सूरत	२५१.००
२०. स्व. बाबूलाल तोतारामजी जैन, भुसावल	२५१.००
२१. श्रीमती नीलू ध.प. राजेशकुमार मनोहरलालजी काला, इन्दौर	२५१.००
२२. श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध.प. श्री पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	२५१.००
२३. स्व. सोहनदेवी ध.प. तनसुखलालजी पाटनी की स्मृति में, जयपुर	२५१.००
२४. स्व. नेमीचन्दजी पहाड़िया की पुण्य स्मृति में, गोहाटी	२०१.००
२५. श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गोहाटी	१५१.००
२६. श्रीमती विमलादेवी ध.प. सुमेरमलजी पहाड़िया, तिनसुकिया	१५१.००
२७. स्व. धापूदेवी ध.प. स्व. ताराचन्दजी गंगवाल जयपुर की पुण्य स्मृति में	१५१.००
२८. श्रीमती गुलकन्दाबेन सुन्दरलालजी जैन हस्ते ब्र. श्रीचन्दजी जैन, देवलाली	१०१.००
कुल राशि :	२५३१८.००

लैजर टाइपसैटिंग :
त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स,
ए-४, बापूनगर,
जयपुर

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम,
जयपुर

प्रकाशकीय

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल की नवीनतम कृति **४७ शक्तियाँ और ४७ नय** को प्रकाशित करते हुए हमें प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। यद्यपि यह कृति डॉ. भारिल्ल कृत समयसार की ज्ञायकभावप्रबोधिनी टीका और प्रवचनसार की ज्ञानज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी टीका के परिशिष्टों के ही अंश हैं; तथापि इस रूप में यह एकदम नई कृति है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रभावना योग से समयसार की आत्मख्याति के परिशिष्ट और प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका के परिशिष्ट में समागत ४७ शक्तियों और ४७ नयों की चर्चा आज जन-जन की वस्तु बन गई है। सभी आत्मार्थी बंधु इनके संबंध में बहुत कुछ जानना चाहते हैं; किन्तु समयसार और प्रवचनसार की अबतक हुई टीकाओं में इनका निरूपण कुछ ही पृष्ठों में अत्यन्त संक्षेप में है और स्वामीजी के प्रवचनों में अत्यधिक विस्तार है। ४७ शक्तियों पर हुए प्रवचन आत्मप्रसिद्धि नाम से ७०० पृष्ठों में और ४७ नयों पर हुए प्रवचन नयप्रज्ञापन नाम से ४०० पृष्ठों में हैं। इसप्रकार ११०० पृष्ठों का पढना हर किसी को संभव नहीं है और अति संक्षिप्त कथन से भी बात स्पष्ट नहीं हो पाती।

अत: डॉ. भारिल्ल कृत टीकाओं में मध्यममार्ग के रूप में १२३ पृष्ठों में इनका प्रतिपादन अत्यन्त सरल भाषा और सुबोध शैली में हुआ है। समयसार और प्रवचनसार जैसे विशाल (मोटे) ग्रंथों को प्रवास में पढना संभव नहीं है। प्रवास के समय का सदुपयोग हो, तदर्थ इस रूप में इनका प्रकाशन उपयोगी सिद्ध होगा। यदि आत्मार्थी पाठकों को इस प्रयास से थोड़ी भी सुविधा हुई तो हम अपने श्रम और इस प्रयास को सफल समझेंगे।

हमें विश्वास है कि पाठक इस कृति का उपयोग अपने आत्मकल्याण की भावना से अवश्य करेंगे और इसके स्वाध्याय से उन्हें आशातीत लाभ होगा।

आकर्षक मुखपृष्ठ एवं छपाई के कार्य के लिए श्री अखिलजी बंसल, टाईप का आकर्षक उपयोग के लिए श्री दिनेशजी शास्त्री एवं कीमत कम करने में सहयोग देनेवाले दातारों को हम धन्यवाद देते हैं।

दिनांक २० मार्च २००८ ई. **– ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.**

प्रकाशन मंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

विषयानुक्रमणिका

(१) ४७ शक्तियाँ — १ से ५६ तक

पृष्ठभूमि १, जीवत्वशक्ति-९, चितिशक्ति-१०, दृशिशक्ति और ज्ञानशक्ति-११, सुखशक्ति-१२, वीर्यशक्ति-१३, प्रभुत्वशक्ति-१४, विभुत्वशक्ति-१५, सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्वशक्ति-१६, स्वच्छत्वशक्ति-१८, प्रकाशशक्ति-२१, असंकुचितविकासत्वशक्ति-२२, अकार्यकारणत्वशक्ति-२३, परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति-२४, त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति-२५, अगुरुलघुत्वशक्ति-२६, उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति-२७, परिणामशक्ति-२८, अमूर्तत्वशक्ति-३०, अकर्तृत्वशक्ति और अभोक्तृत्वशक्ति-३१, निष्क्रियत्वशक्ति-३२, नियतप्रदेशत्वशक्ति-३३, स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति-३४, साधारण-असाधारण-साधारणा-साधारणधर्मत्वशक्ति-३५, अनंतधर्मत्वशक्ति और विरुद्धधर्मत्वशक्ति-३६, तत्त्वशक्ति और अतत्त्वशक्ति-३७, एकत्वशक्ति और अनेकत्वशक्ति-४०, भाव-अभावादि छह शक्तियाँ-४१, भावशक्ति और क्रियाशक्ति-४५, कर्मशक्ति और कर्तृत्वशक्ति-४७, करणशक्ति-४९, सम्प्रदानशक्ति और अपादानशक्ति-५०, अधिकरणशक्ति-५२, सम्बन्धशक्ति-५३.

(२) ४७ नय — ५७ से १२३ तक

पृष्ठभूमि-५७, द्रव्यनय और पर्यायनय-६०, अस्तित्व, नास्तित्व और अस्तित्व-नास्तित्व-६२, अवक्तव्यनय-७०, अस्तित्व-अवक्तव्यनय, नास्तित्व-अवक्तव्यनय और, अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्य नय-७२, विकल्पनय और अविकल्पनय-७८, नामनय, निक्षेपसंबंधीनय, स्थापनानय, द्रव्यनय और भावनय-८०, सामान्यनय और विशेषनय-८५, नित्यनय और अनित्यनय-८७, सर्वगतनय और असर्वगतनय-८९, शून्यनय और अशून्यनय-९१, ज्ञानज्ञेय अद्वैत-नय और ज्ञानज्ञेय द्वैतनय-९३, नियतिनय और अनियतिनय-९६, स्वभावनय और अस्वभावनय-९९, कालनय और अकालनय-१०१, पुरुषाकारनय और दैवनय-१०४, ईश्वरनय और अनीश्वरनय-१०७, गुणीनय और अगुणीनय-११०, कर्तृनय और अकर्तृनय-११२, भोक्तृनय और अभोक्तृनय-११५, क्रियानय और ज्ञाननय-११६, व्यवहारनय और निश्चयनय-१२०, अशुद्धनय और शुद्ध-नय-१२२.

४७ शक्तियाँ और ४७ नय

समयसार परमागम की आत्मख्याति टीका में समागत

४७ शक्तियाँ

नन्वनेकांतमयस्यापि किमर्थमत्रात्मनो ज्ञानमात्रतया व्यपदेशः ? लक्षणप्रसिद्ध्या लक्ष्यप्रसिद्ध्यर्थम्। आत्मनो हि ज्ञानं लक्षणं,

---

मंगलाचरण

(दोहा)

अनंत शक्तियाँ उल्लसित, यद्यपि आतमराम।
ज्ञानमात्र के ज्ञान को, सैंतालीस बखान॥

पृष्ठभूमि

आचार्य कुन्दकुन्द कृत समयसार एवं प्रवचनसार नामक महान ग्रन्थों पर आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति एवं तत्त्वप्रदीपिका नामक टीकाएँ संस्कृत भाषा में लिखी हैं।

उक्त टीकाओं के परिशिष्ट में ४७ शक्तियों और ४७ नयों की चर्चा आई है; जो भगवान आत्मा के स्वरूप को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। इसलिए हम यहाँ उक्त परिशिष्टों को पृथक् से प्रकाशित कर रहे हैं।

आत्मख्याति में प्रश्नोत्तर के माध्यम से ज्ञानमात्र आत्मा का जो अनेकान्तात्मक स्वरूप समझाया गया है; वह इसप्रकार है –

''प्रश्न : अनेकान्तात्मक होने पर भी यहाँ आत्मा को ज्ञानमात्र क्यों कहा गया है; क्योंकि ज्ञानमात्र कहने से तो ज्ञान को छोड़कर अन्य धर्मों-गुणों का निषेध समझा जाता है।

उत्तर : लक्षण की प्रसिद्धि के द्वारा लक्ष्य की प्रसिद्धि-सिद्धि करने

तदसाधारणगुणत्वात्। तेन ज्ञानप्रसिद्ध्या तल्लक्ष्यस्यात्मनः प्रसिद्धिः।

ननु किमनया लक्षणप्रसिद्ध्या, लक्ष्यमेव प्रसाधनीयम्।

नाप्रसिद्धलक्षणस्य लक्ष्यप्रसिद्धिः, प्रसिद्धलक्षणस्यैव तत्प्रसिद्धेः।

ननु किं तल्लक्ष्यं यज्ज्ञानप्रसिद्ध्या ततो भिन्नं प्रसिध्यति ? न ज्ञानाद्भिन्नं लक्ष्यं, ज्ञानात्मनोर्द्रव्यत्वेनाभेदात्।

तर्हि किं कृतो लक्ष्यलक्षणविभागः ?

प्रसिद्धप्रसाध्यमानत्वात् कृतः। प्रसिद्धं हि ज्ञानं, ज्ञानमात्रस्य स्व-

---

के लिए यहाँ आत्मा को ज्ञानमात्र कहा जा रहा है। ज्ञान आत्मा का लक्षण है; क्योंकि ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है। आत्मा से भिन्न पुद्गलादि द्रव्यों में ज्ञान नहीं पाया जाता है। इसलिए ज्ञानलक्षण की प्रसिद्धि से ज्ञान के लक्ष्यभूत आत्मद्रव्य की सिद्धि होती है, प्रसिद्धि होती है।

प्रश्न : इस ज्ञानलक्षण की प्रसिद्धि से क्या प्रयोजन है, क्या लाभ है? मात्र लक्ष्य ही प्रसिद्धि करने योग्य है, लक्ष्यभूत आत्मा की प्रसिद्धि करना ही उपयोगी है; क्योंकि आत्मा का कल्याण तो आत्मा के जानने से होगा।

उत्तर : जिसे लक्षण अप्रसिद्ध हो; उसे लक्ष्य की प्रसिद्धि नहीं हो सकती। जिसे लक्षण प्रसिद्ध होता है; उसे ही लक्ष्य की प्रसिद्धि होती है। यही कारण है कि पहले लक्षण को समझाते हैं, तदुपरान्त लक्षण द्वारा लक्ष्य को समझायेंगे।

प्रश्न : ज्ञान से भिन्न ऐसा कौन-सा लक्ष्य है कि जो ज्ञान की प्रसिद्धि द्वारा प्रसिद्ध किया जाता है ?

उत्तर : ज्ञान से भिन्न कोई लक्ष्य नहीं है; क्योंकि ज्ञान और आत्मा द्रव्य की अपेक्षा से अभिन्न ही हैं।

प्रश्न : यदि ऐसी बात है तो फिर लक्षण और लक्ष्य का विभाग किसलिए किया गया है ?

उत्तर : प्रसिद्धत्व और प्रसाध्यमानत्व के कारण लक्षण और लक्ष्य का विभाग किया गया है। ज्ञान प्रसिद्ध है; क्योंकि ज्ञानमात्र के स्वसंवेदन से सिद्धपना है।

संवेदनसिद्धत्वात्; तेन प्रसिद्धेन प्रसाध्यमानस्तदविनाभूतानंतधर्मसमुदय-मूर्तिरात्मा। ततो ज्ञानमात्राचलितनिखातया दृष्ट्या क्रमाक्रमप्रवृत्तं तदविनाभूतं अनंतधर्मजातं यद्यावल्लक्ष्यते तत्तावत्समस्तमेवैक: खल्वात्मा। एतदर्थमेवात्रास्य ज्ञानमात्रतया व्यपदेश:।

ननु क्रमाक्रमप्रवृत्तानंतधर्ममयस्यात्मन: कथं ज्ञानमात्रत्वम् ?

परस्परव्यतिरिक्तानंतधर्मसमुदायपरिणतैकज्ञप्तिमात्रभावरूपेण स्वयमेव भवनात्।

अत एवास्य ज्ञानमात्रैकभावांत:पातिन्योऽनंता: शक्तय: उत्प्लवंते।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान सभी प्राणियों को स्वसंवेदनरूप अनुभव में आता है। इस प्रसिद्ध ज्ञान लक्षण से उसके साथ अविनाभावीरूप से रहनेवाला अनंत धर्मों के समूहरूप आत्मा प्रसाध्यमान है।

इसलिए ज्ञानमात्र में अचलित स्थापित दृष्टि के द्वारा कुछ क्रम और अक्रमरूप से प्रवर्तमान एवं उस ज्ञान के साथ अविनाभावीरूप से रहने वाला अनन्तधर्मों के समुदायरूप जो भी लक्षित होता है, पहिचाना जाता है; वह सब वास्तविक आत्मा है। यही कारण है कि यहाँ आत्मा को ज्ञानमात्र कहा गया है।

प्रश्न : अरे भाई ! जिस आत्मा में क्रम और अक्रम से प्रवर्तमान अनन्तधर्म हैं; उस आत्मा को ज्ञानमात्र कैसे कहा जा सकता है ? उसमें ज्ञानमात्रता किसप्रकार घटित होती है ?

उत्तर : परस्पर भिन्न अनंत धर्मों के समुदायरूप से परिणत एक ज्ञप्तिमात्रभावरूप स्वयं होने से यह भगवान आत्मा ज्ञानमात्रभावरूप है।

यही कारण है कि उसमें ज्ञानमात्रभाव की अन्त:पातिनी अनंत शक्तियाँ उछलती हैं।

तात्पर्य यह है कि आत्मा के अनंत धर्मों में परस्पर लक्षणभेद होने पर भी प्रदेशभेद नहीं है। आत्मा के एक परिणाम में सभी गुणों का परिणमन रहता है। यही कारण है कि आत्मा के एक ज्ञानमात्रभाव में अनंत शक्तियाँ उछलती हैं, परिणमित होती हैं।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि इस भगवान आत्मा में अनंत गुण हैं, अनंत धर्म हैं, अनंत शक्तियाँ हैं, अनंत स्वभाव हैं।

यद्यपि यह भगवान आत्मा इन सबका अखण्ड पिण्ड है; तथापि उसे यहाँ ज्ञानमात्र कहा जा रहा है; क्योंकि स्वपरप्रकाशक ज्ञान आत्मा का लक्षण है। ज्ञानलक्षण से जो लक्ष्यभूत आत्मा लक्षित किया जाता है, पहिचाना जाता है, जाना जाता है; वह आत्मा ज्ञानमात्र कहे जाने पर भी अनंत गुणों का अखण्ड पिण्ड है, परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले अनंत धर्मयुगलों का अखण्ड पिण्ड है, अनंत स्वभावों का स्वभाववान है और उछलती हुई अनंत शक्तियों का संग्रहालय है।

यहाँ आत्मा को जानने का काम भी ज्ञान करता है और वह आत्मा ज्ञानलक्षण से ही जाना-पहिचाना जाता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानलक्षण से लक्षित आत्मा ज्ञानपर्याय में जानने में आता है। लक्षण भी ज्ञान और उस लक्षण से आत्मा की पहिचान भी ज्ञान ही करता है।

अरे भाई ! परिणमित ज्ञान आत्मा का लक्षण है और ज्ञान परिणमन ही आत्मा को जानता है।

प्रश्न : जब आत्मा में अनन्त गुण हैं तो उसे ज्ञानमात्र क्यों कहा ? क्या ज्ञानमात्र के समान आत्मा को सुखमात्र भी कहा जा सकता है ?

उत्तर : नहीं; क्योंकि ज्ञान आत्मा का लक्षण है और लक्षण से ही लक्ष्य की प्राप्ति होती है। आत्मा को ज्ञानमात्र कहने का एकमात्र यही कारण है।

'ज्ञानमात्र' पद के प्रयोग के संदर्भ में दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं –

१. पहली बात तो यह कि 'ज्ञानमात्र' पद से ज्ञान के साथ अविनाभावी रूप से रहनेवाले गुणों का निषेध इष्ट नहीं है; अपितु पर और विकारी भावों का निषेध ही इष्ट है।

२. दूसरी बात यह है कि अनंत गुणों का अखण्ड पिण्ड होने के आधार पर आत्मा को सुखमात्र, वीर्यमात्र आदि न कहकर ज्ञानमात्र इसलिए कहा गया है कि ज्ञान आत्मा का अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव – इन तीनों दोषों से रहित निर्दोष लक्षण है; आत्मा की पहिचान का चिह्न है।

यहाँ एक प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है कि यह भगवान आत्मा अनंत शक्तियों का संग्रहालय है; इसमें अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं; तो वे अनन्त शक्तियाँ कौन-कौन सी हैं ?

अरे भाई ! क्या अनन्त को भी गिनाया जा सकता है ?

न सही अनन्त, पर कुछ तो बताइये न !

इसी प्रश्न के उत्तर में आगे ४७ शक्तियों की चर्चा की गई है; जो इसप्रकार है –

१. जीवत्वशक्ति २. चितिशक्ति ३. दृशिशक्ति ४. ज्ञानशक्ति ५. सुख-शक्ति ६. वीर्यशक्ति ७. प्रभुत्वशक्ति ८. विभुत्वशक्ति ९. सर्वदर्शित्वशक्ति १०. सर्वज्ञत्वशक्ति ११. स्वच्छत्वशक्ति १२. प्रकाशशक्ति १३. असंकुचित-विकासत्वशक्ति १४. अकार्यकारणत्वशक्ति १५. परिणम्यपरिणामकत्व-शक्ति १६. त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति १७. अगुरुलघुत्वशक्ति १८. उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति १९. परिणामशक्ति २०. अमूर्तत्वशक्ति २१. अकर्तृत्व-शक्ति २२. अभोक्तृत्वशक्ति २३. निष्क्रियत्वशक्ति २४. नियतप्रदेशत्वशक्ति २५. स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति २६. साधारण-असाधारण साधारणा-साधारणधर्मत्वशक्ति २७. अनन्तधर्मत्वशक्ति २८. विरुद्धधर्मत्वशक्ति २९. तत्त्वशक्ति ३०. अतत्त्वशक्ति ३१. एकत्वशक्ति ३२. अनेकत्वशक्ति ३३. भावशक्ति ३४. अभावशक्ति ३५. भाव-अभावशक्ति ३६. अभाव-भावशक्ति ३७. भाव-भावशक्ति ३८. अभाव-अभावशक्ति ३९. भावशक्ति ४०. क्रियाशक्ति ४१. कर्मशक्ति ४२. कर्तृत्वशक्ति ४३. करणशक्ति ४४. सम्प्रदानशक्ति ४५. अपादानशक्ति ४६. अधिकरणशक्ति ४७. संबंधशक्ति।

यद्यपि प्रत्येक शक्ति का स्वतंत्ररूप से अनुशीलन अपेक्षित है;

तथापि कुछ ऐसे तथ्य हैं, जो सभी शक्तियों पर समानरूप से घटित होते हैं; इसकारण उनका स्पष्टीकरण आरंभ में ही अपेक्षित है। उक्त तथ्यों के जान लेने से सभी शक्तियों को समझने में सुविधा रहेगी।

सबसे पहली बात तो यह है कि सभी शक्तियाँ पारिणामिकभावरूप हैं। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक भावों में कर्म का उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदय निमित्त होता है; किन्तु पारिणामिकभाव में कर्म का सद्भाव या अभाव कुछ भी निमित्त नहीं है। **जीव की इन शक्तियों में भी कर्म का सद्भाव या अभाव कुछ भी निमित्त नहीं है; इसकारण ये सभी शक्तियाँ पारिणामिकभावरूप ही हैं।**

दूसरी बात यह है कि इन शक्तियों के प्रकरण में जिस भगवान आत्मा की बात चल रही है; उस भगवान आत्मा में आत्मद्रव्य के साथ-साथ उसमें विद्यमान अनंत गुण और उनका निर्मल परिणमन शामिल है। ध्यान रहे, निर्मल परिणमन (पर्यायें) तो शामिल है, पर विकारी परिणमन शामिल नहीं है।

यद्यपि सभी शक्तियाँ पारिणामिकभावरूप ही हैं; तथापि यहाँ उछलती हुई शक्तियों की बात कही गई है; इसकारण यहाँ निर्मलपर्याय को भी शामिल करके बात हो रही है।

उछलने का आशय मात्र परिणमन नहीं; अपितु निर्मल परिणमन है। **शक्तियाँ पारिणामिकभावरूप हैं और उनका उछलना अर्थात् निर्मल परिणमन औपशमिक और क्षायिकभाव रूप है तथा सम्यग्दृष्टि के क्षयोपशमभावरूप भी है।**

ध्यान रहे, औपशमिक और क्षायिकभाव तो सम्यग्दृष्टियों के ही होते हैं; किन्तु क्षयोपशमभाव सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि अर्थात् ज्ञानी और अज्ञानी दोनों में पाया जाता है। यही कारण है कि यहाँ औपशमिक,

क्षायिक और सम्यग्दृष्टि के क्षायोपशमिक भावों को निर्मल परिणमन कहा गया है।

उक्त भावों रूप परिणमित होना ही शक्तियों का उछलना है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि शक्तियाँ मूलत: तो पारिणामिक-भाव रूप ही हैं, पर उनका परिणमन ज्ञानियों के औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकभावरूप है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जब निर्मल परिणमन को उछलती हुई शक्तियों में शामिल कर लिया तो फिर विकारी परिणमन को भी शामिल कर लेना चाहिए; क्योंकि वह विकारी परिणमन भी तो आखिर उसी का है और ज्ञानियों के भी होता ही है।

यद्यपि विकारी परिणमन भी उसी का है और वह ज्ञानियों के भी होता है; तथापि वह शक्तिरूप नहीं, कमजोरीरूप है।

क्या कमजोरी को भी शक्तियों में शामिल किया जा सकता है?

यद्यपि अज्ञानियों को भूल से और ज्ञानियों को कमजोरी के कारण रागादि पाये जाते हैं; तथापि उन्हें उछलना तो नहीं कहा जा सकता, उल्लसित होना तो नहीं कहा जा सकता।

यही कारण है कि विकारी परिणमन को उछलती हुई शक्तियों में शामिल नहीं किया गया है।

तीसरी बात यह है कि इन शक्तियों में परस्पर प्रदेशभेद नहीं होने पर भी भावभेद है, लक्षणभेद है। यद्यपि एक शक्ति दूसरी शक्तिरूप नहीं है; तथापि एक शक्ति में दूसरी शक्ति का रूप अवश्य है; जिसके कारण वे सभी शक्तियाँ परस्परानुबिद्ध हैं।

प्रश्न : 'एक शक्ति दूसरी शक्तिरूप नहीं है; फिर भी एक शक्ति का रूप दूसरी शक्तियों में है' – इसका भाव ख्याल में नहीं आया।

इसे जरा विस्तार से स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : विस्तार से स्पष्टीकरण तो इन शक्तियों के विशेष अनुशीलन में यथास्थान होगा; किन्तु संक्षेप में आशय यह है कि यदि एक शक्ति दूसरी शक्तिरूप हो तो फिर दोनों एक ही हो जायेंगी, उनमें परस्पर प्रदेशभेद तो है ही नहीं, भावभेद भी नहीं रहेगा।

इसीप्रकार यदि एक शक्ति का रूप दूसरी शक्तियों में, उनकी निर्मल पर्यायों में तथा उनके आधारभूत द्रव्य में भी न मानें तो वस्तु का स्वरूप ही नहीं बनेगा।

जीवत्वशक्ति का रूप यदि अन्य शक्तियों में न हो; उनकी निर्मल पर्यायों में न हो तथा उनके आधारभूत द्रव्य में भी न हो तो फिर शेष शक्तियाँ, उनकी निर्मल पर्यायें व आत्मद्रव्य अजीव हो जायेंगे। इसी प्रकार उनमें चितिशक्ति का रूप नहीं मानने पर आत्मद्रव्य की शक्तियाँ, उनकी निर्मल पर्यायें व उनका आधारभूत द्रव्य सभी जड़ हो जायेंगे; दृशि और ज्ञानशक्ति के रूप से इनकार करने पर सभी ज्ञान-दर्शन से रहित अचेतन हो जायेंगे। यहाँ तक कि प्रमेयत्वशक्ति के रूप को अस्वीकार करने पर सभी अप्रमेय हो जाने से जानने में ही नहीं आयेंगे।

इसीप्रकार सभी शक्तियों के संदर्भ में घटित किया जा सकता है।

आत्मा की अनंत शक्तियों में परस्पर प्रत्येक शक्ति का रूप अन्य शक्तियों में होने से सभी शक्तियाँ, उनकी निर्मल पर्यायें और उनका अभेद-अखण्ड पिण्ड भगवान आत्मा जीव है, चेतन है, ज्ञान-दर्शनमय है, प्रमेय है, त्यागोपादानशून्य है।

इसप्रकार प्रत्येक शक्ति, उनकी निर्मल पर्यायें और उनका अभेद-अखण्ड आत्मा अनंत शक्तिसंपन्न है, अनंत शक्तियों का संग्रहालय है और अनंत गुणों का गोदाम है।

अब प्रत्येक शक्ति का विवेचन प्रसंगप्राप्त है; जिसकी चर्चा आगे हो रही है।

१. जीवत्वशक्ति

आत्मद्रव्यहेतुभूतचैतन्यमात्रभावधारणलक्षणा जीवत्वशक्तिः।

अब आचार्य अमृतचन्द्र जीवत्वशक्ति के बारे में लिखते हैं, जिसका हिन्दी अनुवाद इसप्रकार है –

आत्मद्रव्य के हेतुभूत चैतन्यभाव को धारण करना है लक्षण जिसका, वह जीवत्वशक्ति है।

इस जीवत्वशक्ति के बीज समयसार की दूसरी गाथा में विद्यमान हैं। यह तो सर्वविदित ही है कि जीव का लक्षण चेतना है। चेतना ही जीव के भावप्राण हैं और उसके कारण ही इस जीव नामक पदार्थ का जीवन है। पंचास्तिकाय में निश्चय से जीव के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो जीता था, जीता है और जियेगा; वही जीव है।

तात्पर्य यह है कि यह जीव अपने जीवन के लिए परपदार्थों पर निर्भर नहीं है। इसमें चैतन्यभाव को धारण करनेवाली जीवत्वशक्ति है, जीवनशक्ति है; इसके कारण ही यह सदा जीवित रहा है अर्थात् अबतक जीवित रहा है, अभी जीवित है और भविष्य में भी जीवित रहेगा।

ध्यान रहे, इस जीवत्वशक्ति के कारण ही आत्मवस्तु का नाम जीव पड़ा है। यह जीव न तो आहार-पानी से जीता है और न आयुकर्म के उदय से ही जीता है; इसके जीवन का आधार तो जीवत्वशक्ति है।

सांसारिक अवस्था में देह के संयोगरूप जीवन में भी आहार-पानी बहिरंग निमित्त और आयुकर्म का उदय अन्तरंग निमित्त है; उपादान तो जीव की पर्यायगत योग्यता ही है।

इस जीव को मरणभय ही सर्वाधिक परेशान करता है; इसलिए आचार्यदेव ने सबसे पहले जीवत्वशक्ति की चर्चा करके इसके मरणभय को दूर करने का सफल प्रयास किया है।

२. चितिशक्ति

अजडत्वात्मिका चितिशक्तिः।

चितिशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

अजड़त्व अर्थात् जड़रूप नहीं होना, चेतनरूप होना है लक्षण जिसका, उसे चितिशक्ति कहते हैं।

जीवत्वशक्ति से सम्पन्न आत्मा में चिति नामक एक ऐसी भी शक्ति है, जिसके कारण यह आत्मा जड़रूप नहीं है या जड़रूप नहीं होता।

यही कारण है कि इस चितिशक्ति को अजड़त्वात्मिका कहा है, अजड़रूप कहा है।

यह भगवान आत्मा जीवत्वशक्ति के कारण जीव है और चितिशक्ति के कारण अजीव नहीं है, जड़ नहीं है। चितिशक्ति यह बताती है कि तू देहरूप नहीं है और जीवत्वशक्ति यह बताती है कि देह के संयोग से तेरा जीवन नहीं है, तेरा जीवन तो चैतन्यरूप भावप्राणों से है।

यह चितिशक्ति अर्थात् चैतन्यरूप रहना आत्मा का लक्षण है और जीवत्वशक्ति इस लक्षण से लक्षित किया जानेवाला, पहिचाना जानेवाला लक्ष्य है।

इसप्रकार यहाँ यह कहा गया है कि यह जीव जीवत्वशक्ति से जीवित रहता है और चितिशक्ति से चेतनरूप रहता है, जड़रूप नहीं होता।।२।।

दृशिशक्ति और ज्ञानशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

अनाकार उपयोगमयी दृशिशक्ति है और साकार उपयोगमयी ज्ञान-शक्ति है।

जिसमें ज्ञेयरूप आकार अर्थात् विशेष नहीं हैं; ऐसे दर्शनोपयोगमयी सत्तामात्र पदार्थ में उपयुक्त होनेरूप दर्शनक्रियारूप दृशिशक्ति है और जो

३-४. दृशिशक्ति और ज्ञानशक्ति

अनाकारोपयोगमयी दृशिशक्तिः, साकारोपयोगमयी ज्ञानशक्तिः।

ज्ञेयपदार्थों के विशेषरूप आकारों में उपयुक्त होती है; वह ज्ञानोपयोगमयी ज्ञानशक्ति है।

ध्यान रहे, यहाँ शक्तियों का प्रकरण होने से सामान्य अवलोकनरूप दर्शन गुण को दृशिशक्ति और विशेष जाननेरूप ज्ञानगुण को ज्ञानशक्ति कहा गया है।

इसप्रकार जीवत्वशक्ति में यह बताया था कि यह आत्मा त्रिकाल अपने चेतनप्राणों से जीवित रहता है और चितिशक्ति में यह बताया था कि वह जड़रूप नहीं होता तथा अब इन दृशिशक्ति और ज्ञानशक्ति में यह बताया जा रहा है कि **आत्मा का वह चेतनस्वरूप सामान्यग्राही दर्शनोपयोग और विशेषग्राही ज्ञानोपयोगरूप है।**

यह भगवान आत्मा लक्ष्यरूप जीवत्वशक्ति, लक्षणरूप चितिशक्ति और चितिशक्ति के ही विशेष देखने-जाननेरूप उपयोगमयी दृशिशक्ति और ज्ञानशक्ति से सम्पन्न होता है।

इस भगवान आत्मा को जीवत्वशक्ति के कारण जीव, चितिशक्ति के कारण चेतन और ज्ञान व दृशिशक्ति के कारण ज्ञाता-दृष्टा कहा जाता है। इसप्रकार हम देखते हैं कि हमारे मूल प्रयोजनभूत जीवतत्त्वरूप भगवान आत्मा का स्वरूप अब धीरे-धीरे स्पष्ट होता जा रहा है॥२-३॥

जीवत्व, चिति, दृशि और ज्ञानशक्ति की चर्चा करने के बाद अब सुखशक्ति की चर्चा करते हैं –

सुखशक्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में लिखते हैं – **अनाकुलता लक्षणवाली सुखशक्ति है।**

यह एक सार्वभौमिक सत्य है कि सभी प्राणी सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक आत्मार्थी के लिए अनाकुलत्व

५. सुखशक्ति

अनाकुलत्वलक्षणा सुखशक्तिः।

लक्षणवाली यह सुखशक्ति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए ४७ शक्तियों के निरूपण में जीवत्व, चिति, दृशि और ज्ञानशक्ति के तत्काल बाद इसकी चर्चा की गई है।

ज्ञान-दर्शनरूप चेतना तो भगवान आत्मा का लक्षण है; अतः उनकी चर्चा तो सर्वप्रथम होनी ही चाहिए थी। आत्मा को सच्चिदानन्द कहा जाता है। सत् में जीवत्व, चित् में चिति और ज्ञान-दर्शन में दृशि और ज्ञानशक्ति तथा आनन्द में सुखशक्ति आ जाती है।

इसप्रकार सच्चिदानन्द में आरंभ की पाँच शक्तियाँ आ जाती हैं।

यद्यपि आत्मा में जो अनंत शक्तियाँ हैं, वे सब भगवान आत्मा में एकसाथ ही रहती हैं, उनमें आगे-पीछे का कोई क्रम नहीं है; तथापि कहने में तो क्रम पड़ता ही है; क्योंकि सभी को एकसाथ कहना तो संभव है नहीं।

ऐसी स्थिति में यह आवश्यक नहीं है कि किस शक्ति को पहले रखें और किसको बाद में; फिर भी 'वस्तुस्वरूप आसानी से समझ में आ जाये' – इस दृष्टि से प्रस्तुतीकरण में आचार्यदेव एक क्रमिक विकास तो रखते ही हैं।

सुखशक्ति में श्रद्धाशक्ति और चारित्रशक्ति भी शामिल समझनी चाहिए; क्योंकि ४७ शक्तियों में श्रद्धा और चारित्रशक्ति का नाम नहीं है। सुखशक्ति के निर्मल परिणमन में अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द की कणिका जगने में श्रद्धा और चारित्रगुण के निर्मल परिणमन का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

प्रश्न : इस सुखशक्ति के जानने से क्या लाभ है ?

उत्तर : अनादि से यह आत्मा परपदार्थों में ही सुख जानता-मानता

६. वीर्यशक्ति

स्वरूपनिर्वर्तनसामर्थ्यरूपा वीर्यशक्तिः।

रहा है; परपदार्थों में ही सुख की खोज करता रहा है; तथापि आजतक उसे रंचमात्र भी सुख की प्राप्ति नहीं हुई है; इसीकारण आकुल-व्याकुल हो रहा है। इस सुखशक्ति के स्वरूप को समझने से इसे यह पता चलेगा कि यह भगवान आत्मा तो स्वयं सुख का पिण्ड है, आनन्द का कंद है; सुख प्राप्ति के लिए इसे पर की ओर देखने की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है।

दूसरे, यह आत्मा जिन शुभभावों और पुण्यकर्म को सुख का कारण जानकर आज तक अपनाता रहा है; वे सुख के कारण नहीं हैं, सुख का कारण तो स्वयं अपना आत्मा है – यह जानकर अपने उपयोग को वहाँ से हटाकर अपने आत्मा के सम्मुख करेगा।।५।।

इसप्रकार इस सुखशक्ति को समझने के उपरान्त अब वीर्यशक्ति की चर्चा करते हैं –

वीर्यशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार समझाया गया है – **स्वरूप की रचना की सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति है।**

जब यह भगवान आत्मा अरहंत-सिद्धदशा को प्राप्त हो जाता है; तब उसके अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य प्रगट हो जाते हैं। इन्हें अनंतचतुष्टय कहते हैं।

उक्त अनंतचतुष्टय दृशिशक्ति, ज्ञानशक्ति, सुखशक्ति और वीर्यशक्ति का ही परिपूर्ण प्रस्फुटन है। वैसे तो अरहंत-सिद्ध अवस्था में सभी शक्तियाँ पूर्णतः प्रस्फुटित हो जाती हैं, पूर्ण निर्मलदशा को प्राप्त हो जाती हैं; तथापि प्रमुखरूप से अनंतचतुष्टय के रूप में उल्लेख उक्त शक्तियों के निर्मल परिणमन का ही होता रहा है।

७. प्रभुत्वशक्ति

अखण्डितप्रतापस्वातंत्र्यशालित्वलक्षणा प्रभुत्वशक्तिः।

ज्ञान-दर्शन तो आत्मा का लक्षण है और सुख एक ऐसी वस्तु है कि जिसकी कामना सभी को है तथा वीर्यशक्ति के बिना इनकी रचना कौन करेगा; क्योंकि प्रत्येक वस्तु के स्वरूप की रचना करनेवाली अर्थात् उनके निर्मल परिणमन में हेतु तो यही वीर्यशक्ति है।

इसप्रकार ये चार शक्तियाँ अनंतचतुष्टय के रूप में उल्लसित होती हैं; प्रस्फुटित होती हैं, उछलती हैं। यही कारण है कि इनका निरूपण आरंभ में ही किया गया है।

जीवत्वशक्ति तो जीव का जीवन ही है और चितिशक्ति उसके चेतनत्व को कायम रखनेवाली शक्ति है। चितिशक्ति के ही दो रूप हैं – ज्ञान और दर्शन; जो आत्मा के लक्षण हैं।

जिसके अतीन्द्रिय सुखरूप परिणमन की चाह सभी को है, वह अनाकुलत्वलक्षण सुखशक्ति आनन्द रूप है। इनके निरूपण के उपरान्त वीर्यशक्ति का निरूपण क्रमप्राप्त ही है; क्योंकि अनन्तचतुष्टय में तीन चतुष्टय तो आरंभ की पाँच या तीन शक्तियों में ही समाहित हो गये हैं; अब इस वीर्यशक्ति के निरूपण से हमारे लिए परम इष्ट अनन्त चतुष्टय पूर्ण हो जायेंगे। इसप्रकार हम देखते हैं कि आरंभ की छह शक्तियों में अनंतचतुष्टय के बीज विद्यमान हैं।

ध्यान रहे, इस वीर्यशक्ति का माता-पिता के रज-वीर्य से कोई संबंध नहीं है; क्योंकि वे तो जड़ हैं, पुद्गल के परिणमन हैं। इसीप्रकार तीर्थंकर को जन्म से ही प्राप्त होनेवाले अतुल्यबल से भी इसका कोई संबंध नहीं है; क्योंकि वह भी शारीरिक बल से ही संबंध रखता है।

इस वीर्यशक्ति का संबंध अनंतचतुष्टय में शामिल अनंतवीर्य से है। अनंतवीर्य इस वीर्यशक्ति के पूर्ण निर्मल परिणमन का ही नाम है।

८. विभुत्वशक्ति

सर्वभावव्यापकैकभावरूपा विभुत्वशक्ति:।

इसप्रकार वीर्यशक्ति की चर्चा के बाद अब प्रभुत्वशक्ति की चर्चा करते हैं।

प्रभुत्वशक्ति का स्वरूप आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं – **अखण्डितप्रताप और स्वतंत्रता से सम्पन्न होना है लक्षण जिसका; वह प्रभुत्वशक्ति है।**

प्रभु अर्थात् प्रभावशाली, पूर्णत: समर्थ। अनंत महिमावंत, अखण्डित प्रताप से सम्पन्न और पूर्णत: स्वतंत्र पदार्थ; जिसमें रंचमात्र भी दीनता न हो, जिसे पर के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं हो; वह पदार्थ प्रभु कहा जाता है।

अपना भगवान आत्मा भी एक प्रभु पदार्थ है, अनंतप्रभुता से सम्पन्न है, अनंत महिमावंत है, अखण्डित प्रतापवंत है, पूर्णत: स्वतंत्र समर्थ पदार्थ है; क्योंकि वह प्रभुत्वशक्ति से सम्पन्न है। उसमें और उसके असंख्य प्रदेशों में, अनन्त गुणों में और उनकी निर्मल पर्यायों में प्रभुत्व-शक्ति का रूप विद्यमान है। इसकारण यह भगवान आत्मा प्रभु है, उसके असंख्य प्रदेश प्रभु हैं, उसके अनंत गुण प्रभु हैं और उनकी अनंत निर्मल पर्यायें भी प्रभु हैं।

इसप्रकार की अनंत प्रभुता से सम्पन्न भगवान आत्मा तू स्वयं है, मैं स्वयं हूँ, हम सब स्वयं हैं; – ऐसा जानकर हे आत्मन्! तू अपनी प्रभुता को पहिचान। ऐसा करने से तेरी वर्तमान पर्याय में विद्यमान पामरता समाप्त होगी और प्रभुत्व शक्ति का निर्मल परिणमन होकर तेरी पर्याय में भी प्रभुता प्रगट हो जायेगी।

विभुत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है – **विभुत्वशक्ति सर्वभावों में व्यापक एक भावरूप होती है।**

९-१०. सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्वशक्ति

विश्वविश्वसामान्यभावपरिणतात्मदर्शनमयीसर्वदर्शित्वशक्तिः, विश्वविश्वविशेषभावपरिणतात्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्तिः।

जीवत्व, चिति, दृशि और ज्ञान आदि सभी भावों अर्थात् शक्तियों में व्याप्त एकभावरूप शक्ति का नाम विभुत्वशक्ति है।

तात्पर्य यह है कि इस भगवान आत्मा में एक ऐसी शक्ति भी विद्यमान है कि जो स्वयं तो सभी भावों (शक्तियों) में व्याप्त है ही; साथ में इसका रूप सभी शक्तियों में होने से सभी शक्तियाँ भी एक-दूसरे में व्याप्त हैं।

शक्तियों के परस्पर भिन्न होने पर भी इस शक्ति के कारण वे शक्तियाँ परस्पर एक-दूसरे में व्याप्त हैं; **इसीकारण यह भगवान आत्मा अखण्ड है, अविभक्त है, एक है ।।७-८।।**

इसप्रकार प्रभुत्वशक्ति और विभुत्वशक्ति के विवेचन के उपरान्त अब सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्वशक्ति के स्वरूप पर विचार करते हैं।

इन शक्तियों का स्वरूप आत्मख्याति में जिसप्रकार स्पष्ट किया गया है, उसका हिन्दी अनुवाद इसप्रकार है –

सर्वदर्शित्वशक्ति समस्त विश्व के सामान्य भाव को देखनेरूप से परिणत आत्मदर्शनमयी है और सर्वज्ञत्वशक्ति समस्त विश्व के विशेष भावों को जाननेरूप से परिणत आत्मज्ञानमयी है।

दोनों शक्तियों का स्वरूप थोड़े-बहुत अन्तर के साथ लगभग एक जैसा ही है। यद्यपि दोनों शक्तियाँ मूलतः आत्ममयी हैं; तथापि दोनों में अन्तर है कि सर्वदर्शित्वशक्ति आत्मदर्शनमयी होते हुए भी समस्त विश्व के सामान्यभाव (सत्सामान्य) को देखनेरूप है और सर्वज्ञत्वशक्ति आत्मज्ञानमयी होते हुए भी समस्त विश्व के विशेषभावों को जाननेरूप है। **सर्वदर्शित्वशक्ति देखनेरूप है और सर्वज्ञत्वशक्ति जाननेरूप है तथा सर्वदर्शित्वशक्ति सामान्य भाव को विषय बनाती है और सर्वज्ञत्व-शक्ति विशेष भावों को विषय बनाती है।**

किसी वस्तु को जानने के पहले जो सामान्य अवलोकन होता है, उसे दर्शन कहा जाता है। यह पहले और बाद का भेद भी छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) के ही होता है, सर्वदर्शी-सर्वज्ञ भगवान के नहीं; क्योंकि सर्वज्ञ भगवान के स्वपर समस्त वस्तुओं संबंधी दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग एकसाथ ही होते हैं। **चूँकि यहाँ दृशि और ज्ञानशक्ति की बात नहीं है, यहाँ तो सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्वशक्ति की बात चल रही है; अत: यहाँ पहले और बाद का भेद किए बिना यह कहना ही ठीक है कि सामान्यावलोकन दर्शन है और विशेषावलोकन ज्ञान है।**

ध्यान रहे कि अवलोकन शब्द अकेले दर्शन का वाचक नहीं; अपितु दर्शन (देखने) और ज्ञान (जानने) दोनों को ही अवलोकन कहा जाता है।

इसीप्रकार प्रकाशन शब्द का उपयोग देखने और जानने – दोनों ही अर्थों में होता है; क्योंकि दोनों ही शक्तियाँ समानरूप से स्वपरप्रकाशक हैं और दोनों का विषय भी लोकालोक है।

लोकालोक को देखने-जानने के कारण यह आत्मा लोकालोकमय नहीं हो जाता, आत्ममय ही रहता है – यह बताने के लिए ही दोनों के स्वरूप में आत्मदर्शनमयी और आत्मज्ञानमयी पदों का प्रयोग किया गया है। तात्पर्य यह है कि दोनों ही शक्तियाँ आत्मामय हैं, लोकालोक मय नहीं।

यद्यपि दृशि और ज्ञानशक्ति में देखने-जानने की बात आ गई थी; तथापि सबको देखने-जानने की बात नहीं आई थी। इसकारण ही यहाँ समस्त लोकालोक को देखने-जाननेरूप परिणमित होने की बात को सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्वशक्ति के रूप में कहा जा रहा है।

इन शक्तियों के नाम से ही बात स्पष्ट हो जाती है कि यहाँ स्वपर सभी को देखने-जानने की बात है; क्योंकि इनके नाम ही सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्वशक्ति हैं।

११. स्वच्छत्वशक्ति

नीरूपात्मप्रदेशप्रकाशमानलोकालोकाकारमेचकोपयोगलक्षणा स्वच्छत्वशक्ति:।

ध्यान रहे, भगवान आत्मा में ये सभी शक्तियाँ वस्तुरूप से हैं; काल्पनिक नहीं। अत: यह कथन निश्चयनय का है, व्यवहारनय का नहीं। तात्पर्य यह है कि इस भगवान आत्मा में स्वपर को देखने-जानने की शक्ति है – यह बात परमसत्य है ॥९-१०॥

सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्वशक्ति की चर्चा के उपरान्त अब स्वच्छत्वशक्ति की चर्चा करते हैं –

इस ग्यारहवीं स्वच्छत्वशक्ति का स्पष्टीकरण आत्मख्याति में इसप्रकार किया गया है –

अमूर्तिक प्रदेशों में प्रकाशमान लोकालोक के आकारों से मेचक अर्थात् अनेकाकार उपयोग है लक्षण जिसका, वह स्वच्छत्वशक्ति है।

जिसप्रकार पौद्गलिक अचेतन दर्पण स्वभावत: ही स्वच्छ होता है, उसके सामने जो भी पौद्गलिक (मूर्तिक) पदार्थ आते हैं; वे सभी पदार्थ बिना किसी भेदभाव के एकसाथ उसमें प्रतिबिम्बित हो जाते हैं, झलक जाते हैं। उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भी स्वभाव से अत्यन्त स्वच्छ है, निर्मल है और इसमें भी सभी पदार्थ एकसाथ प्रतिबिम्बित हो जाते हैं, झलक जाते हैं, देख लिये जाते हैं, जान लिये जाते हैं।

ध्यान रहे, पौद्गलिक दर्पण में तो मात्र मूर्तिक पुद्गल ही झलकते हैं; किन्तु इस भगवान आत्मा में मूर्तिक पदार्थों के साथ-साथ अमूर्तिक जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल – ये सभी पदार्थ, इनके गुण तथा उनकी समस्त भूत, भावी और वर्तमान पर्यायें भी प्रतिबिम्बित हो जाती हैं।

एक बात और भी है कि दर्पण में तो वही मूर्तिक पदार्थ झलकते हैं, जो उसके सामने आते हैं; परन्तु भगवान आत्मा के स्वच्छ स्वभाव

में तो समीपवर्ती, दूरवर्ती, भूतकालीन, वर्तमान एवं भावी, सूक्ष्म और स्थूल सभी पदार्थ एकसाथ एक जैसे स्पष्ट झलक जाते हैं।

दर्पण में तो समीपवर्ती पदार्थ स्पष्ट और दूरवर्ती पदार्थ अस्पष्ट झलकते हैं; किन्तु आत्मा में तो समीपवर्ती-दूरवर्ती, स्थूल-सूक्ष्म, भूतकालीन एवं भावी सभी पदार्थ वर्तमानवत् ही स्पष्ट प्रतिभासित होते हैं। अत: यहाँ दर्पण के उदाहरण को मात्र पदार्थों के प्रतिबिम्बित होने तक ही सीमित रखना चाहिए।

भगवान आत्मा में पदार्थों के झलकने का जो अद्भुत स्वच्छ स्वभाव है, उसी का नाम स्वच्छत्वशक्ति है।

दृशिशक्ति, ज्ञानशक्ति, सर्वदर्शित्वशक्ति और सर्वज्ञत्वशक्ति के साथ-साथ यह स्वच्छत्वशक्ति और आगे की आनेवाली प्रकाशशक्ति – ये सभी शक्तियाँ आत्मा के देखने-जाननेरूप स्वभाव से ही संबंधित हैं। दृशिशक्ति और ज्ञानशक्ति में सामान्यरूप देखने-जानने की बात कही गई है तो सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्वशक्ति में सभी को देखने-जानने की बात कही गई है।

सभी पदार्थों के देखने-जाननेरूप कार्य में आत्मा को सभी ज्ञेयों के पास जाना पड़े – ऐसा नहीं है; क्योंकि इस भगवान आत्मा के स्वच्छ स्वभाव में समस्त लोकालोक सहजभाव से दिखाई देता है, जानने में आ जाता है। आत्मा के इस सहज निर्मल स्वभाव का नाम ही स्वच्छत्वशक्ति है।

इस भगवान आत्मा के ज्ञानस्वभाव में मात्र परपदार्थ ही नहीं झलकते; अपने आत्मा का अनुभव भी होता है। अपना आत्मा अनुभव में आये – ऐसा भी आत्मा का स्वभाव ही है।

आत्मा के इस स्वभाव का नाम ही प्रकाशशक्ति है। प्रकाशशक्ति की चर्चा विस्तार से यथास्थान की जायेगी।

इसप्रकार हम देखते हैं कि उक्त छह शक्तियाँ आत्मा के देखने-जाननेरूप स्वभाव से ही संबंध रखती हैं।

जिसप्रकार दर्पण में कितने ही पदार्थ क्यों न झलकें, उनका बोझा

दर्पण पर नहीं पड़ता; इनके झलकने से उसमें किसी भी प्रकार की विकृति नहीं होती। उसीप्रकार इस भगवान आत्मा के स्वच्छत्वस्वभाव में सम्पूर्ण लोकालोक झलकें तो आत्मा पर कुछ बोझा नहीं पड़ता, कुछ विकृति नहीं आती; क्योंकि वे पदार्थ उसके जानने में तो आते हैं, पर उसमें प्रवेश नहीं करते, उसके पास भी नहीं फटकते। न तो परपदार्थ आत्मा में आते हैं और न आत्मा ही उन्हें जानने के लिए उनके पास जाता है। न तो उन ज्ञेय पदार्थों के कारण आत्मा की स्वाधीनता पर ही कुछ फर्क पड़ता है और न ही आत्मा के जानने के कारण उन ज्ञेय पदार्थों की स्वतंत्रता ही बाधित होती है।

जब इस स्वच्छत्वशक्ति का पूर्ण निर्मल परिणमन होता है; तब सारा लोकालोक आत्मा में झलकता है और जब अल्प निर्मलता होती है, तब पदार्थ कुछ अस्पष्ट झलकते हैं; पर झलकते तो हैं ही। इसप्रकार यह स्वच्छत्वशक्ति आत्मा के उस निर्मल स्वभाव का नाम है कि जिसमें लोकालोक प्रतिबिम्बित होता है – ऐसा होने पर भी वह निर्भार ही रहता है, स्वाधीन ही रहता है; लोकालोक के झलकने से उसकी सुख-शान्ति में कोई बाधा नहीं आती।

इस स्वच्छत्वशक्ति का रूप सभी गुणों में है; इसकारण सभी गुण स्वच्छ हैं। ज्ञान स्वच्छ है, श्रद्धा स्वच्छ है, चारित्र स्वच्छ है, सुख स्वच्छ है। अरे भाई ! सभी गुणों के साथ-साथ यह भगवान आत्मा भी स्वच्छ है। जब यह स्वच्छत्वशक्ति पर्याय में परिणमित होती है तो इस शक्ति का रूप सभी अविकारी पर्यायों में होने से वे भी स्वच्छतारूप परिणमन करती हैं।

ज्ञेयों के कारण ज्ञान रंचमात्र भी विकृत नहीं होता – यह सब इस स्वच्छत्वशक्ति का ही प्रताप है। द्वादशांग के पाठी इन्द्रादि जैसे लोग स्तुति करें तथा कोई हजारों गालियाँ देवें – दोनों बातें ज्ञान की ज्ञेय बनें, फिर भी स्तुति करनेवालों के प्रति राग न हो और गालियाँ देनेवालों के प्रति

१२. प्रकाशशक्ति

स्वयंप्रकाशमानविशदस्वसंवित्तिमयी प्रकाशशक्तिः।

द्वेष न हो – ऐसी वीतरागता भी तो चारित्रगुण में स्वच्छत्वशक्ति का रूप होने से ही हुई है।

इस स्वच्छत्वशक्ति का स्वरूप ख्याल में आये तो कमाल हो जाये; पर के जानने से ज्ञान मलिन हो जायेगा, मेचक हो जायेगा, अनेकाकार हो जायेगा – इसप्रकार की आकुलता ही नहीं होगी। इसीकारण पर के जानने को मिथ्यात्व कहना भी सहज संभव न रहेगा॥११॥

स्वच्छत्वशक्ति की चर्चा के उपरान्त अब प्रकाशशक्ति की चर्चा करते हैं –

इस बारहवीं प्रकाशशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है – **जो स्वयंप्रकाशमान है, विशद, स्पष्ट और निर्मल स्वसंवेदनमय स्वानुभव से युक्त है; वह प्रकाशशक्ति है।**

११ वीं स्वच्छत्वशक्ति में इस बात पर वजन दिया गया है कि यह आत्मा लोकालोक को जाने अथवा लोकालोक इसके ज्ञान में झलकें – ऐसा इसका स्वभाव है। अब इस १२ वीं प्रकाशशक्ति में यह कहा जा रहा है कि न केवल लोकालोक को, अपितु स्वयं को स्पष्टरूप से जाने अर्थात् आत्मा का अनुभव करे – ऐसी भी एक शक्ति आत्मा में है, जिसका नाम है प्रकाशशक्ति।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि लोकालोक में अपना आत्मा भी तो आ गया; अत: स्वच्छत्वशक्ति के कारण वह भी आत्मा के ज्ञानस्वभाव में, स्वच्छस्वभाव में झलक जायेगा, जान लिया जायेगा। उसके लिए अलग से इस प्रकाशशक्ति की क्या आवश्यकता है?

अरे भाई! यह प्रकाशशक्ति स्वसंवेदनमयी है, स्वच्छत्वशक्ति स्वसंवेदनमयी नहीं है। परपदार्थ तो मात्र आत्मा में देखे-जाने ही

१३. असंकुचितविकासत्वशक्ति

क्षेत्रकालानवच्छिन्नचिद्विलासात्मिका असंकुचितविकाशत्वशक्तिः।

जाते हैं; किन्तु अपने भगवान आत्मा का अनुभव किया जाता है। वह अनुभव स्वसंवेदनमयी प्रकाशशक्ति का ही कार्य है।

इस शक्ति की श्रद्धा और ज्ञान होने से आत्मानुभव के लिए पर के सहयोग की आकांक्षा से उत्पन्न होनेवाली आकुलता का अभाव होकर निराकुल शान्ति की प्राप्ति होती है॥१२॥

इसप्रकार प्रकाशशक्ति की चर्चा करने के उपरान्त अब असंकुचित-विकासत्वशक्ति की चर्चा करते हैं –

इस तेरहवीं असंकुचितविकासत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है–

असंकुचितविकासत्वशक्ति क्षेत्र और काल से अमर्यादित चिद्विला-सात्मक (चैतन्य के विलासस्वरूप) है।

अनंत शक्तियों से सम्पन्न इस भगवान आत्मा में एक शक्ति ऐसी भी है कि जिसके कारण यह आत्मा बिना किसी संकोच के पूर्णरूप से विकसित होता है। तात्पर्य यह है कि इस भगवान आत्मा का प्रत्येक गुण पर्याय में निर्मलता के साथ-साथ पूर्णता को भी प्राप्त होता है। ज्ञानगुण केवलज्ञान रूप परिणमित होता है, श्रद्धागुण क्षायिकसम्यक्त्वरूप परिणमित होता है।

यह शक्ति क्षेत्र और काल से अबाधित है और चैतन्य के विलास रूप है। तात्पर्य यह है कि **इस आत्मा के चैतन्य के विलास में क्षेत्र और काल संबंधी कोई संकोच नहीं है, सीमा नहीं है; मर्यादा नहीं है।**

इस शक्ति का रूप सभी गुणों में होने से वे भी असंकुचितविकासत्व को प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि वे अपने-अपने स्वभाव के अनुसार पूर्ण विकास को प्राप्त होते हैं। उन्हें अपने अविच्छिन्न विकास के लिए क्षेत्र व काल संबंधी किसी भी प्रकार का संकोच नहीं होता, बाधा उपस्थित नहीं होती; क्योंकि उनमें असंकुचितविकासत्वशक्ति का रूप है।

१४. अकार्यकारणत्वशक्ति

अन्याक्रियमाणान्याकारकैकद्रव्यात्मिका अकार्यकारणत्वशक्तिः।

अपने स्वभाव और सीमा में परिपूर्ण विकसित होने के लिए तुझे पर के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि तुझमें एक असंकुचितविकासत्व नाम की शक्ति है; जिसके कारण तू स्वयं में परिपूर्ण विकास कर सकता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अपने स्वभाव की सीमा में असीमित विकास होना, असंकुचितविकास होना ही असंकुचितविकासत्वशक्ति का कार्य है। इस शक्ति का रूप सभी शक्तियों में होने से सभी शक्तियों का अपने-अपने स्वभावानुसार अपनी-अपनी सीमा में असीमित विकास हो सकता है और यह विकास अनंत शक्तियों के संग्रहालय भगवान आत्मा के आश्रय से होता है, त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान से होता है ।।१३ ।।

इसप्रकार असंकुचितविकासत्वशक्ति की चर्चा करने के उपरान्त अब अकार्यकारणत्वशक्ति की चर्चा करते हैं।

इस चौदहवीं अकार्यकारणत्वशक्ति की परिभाषा आत्मख्याति में इसप्रकार दी गई है –

इस भगवान आत्मा में एक शक्ति ऐसी भी है कि जिसके कारण यह आत्मा न तो अन्य से किया जाता है और न अन्य को करता ही है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं है, कारण नहीं है, कार्य नहीं है – यह सभी द्रव्यों के संदर्भ में जैनदर्शन का सामान्य कथन है। इसी सिद्धान्त को आधार बनाकर यहाँ अपने आत्मा पर घटित किया जा रहा है।

अनंत शक्तियों के संग्रहालय इस भगवान आत्मा में एक शक्ति ऐसी भी है कि जिसके कारण **यह भगवान आत्मा न तो किसी का कार्य है और न किसी का कारण है।**

१५. परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति

परात्मनिमित्तकज्ञेयज्ञानाकारग्रहणग्राहणस्वभावरूपा परिणम्य-परिणामकत्वशक्तिः।

द्रव्य और गुण तो अनादि-अनंत होते हैं; इसकारण वे कार्य ही नहीं हैं; अत: उनके संदर्भ में तो किसी परद्रव्य के कार्य होने का प्रश्न खड़ा नहीं होता। कार्य तो परिणमन को कहा जाता है, पर्याय को कहा जाता है। इस भगवान आत्मा का परिणमन भी किसी परद्रव्य का कार्य नहीं है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा में होनेवाला परिणमन पर के कारण नहीं होता। इसीप्रकार परद्रव्यों के द्रव्य-गुण भी त्रिकाली होने से कार्य नहीं होते; उनका परिणमन ही उनका कार्य है। उनके परिणमन का कारण यह आत्मा नहीं है; इसलिए यह किसी का कारण भी नहीं है।

इसप्रकार न तो यह भगवान आत्मा किसी परद्रव्य का कार्य है और न किसी परद्रव्य का कारण है। किसी परद्रव्य का कार्य या कारण न बने – इस भगवान आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है।

भगवान आत्मा के इस स्वभाव का नाम अकार्यकारणत्वशक्ति है।

यह शक्ति अनंत स्वाधीनता की सूचक और निर्भार रहने का अमोघ उपाय है। यदि एकबार यह बात चित्त की गहराई में उतर जाये तो पर में कुछ करने की अनंत आकुलता और पर मुझमें कुछ कर न दें – इसप्रकार का भय उसी समय समाप्त हो सकता है।

यह भगवान आत्मा पूर्णत: स्वाधीन है; न तो इसे पर में कुछ करना है और न स्वयं के कार्य के लिए पर के भरोसे ही रहना है; क्योंकि इसमें अनन्त शक्तियों के साथ-साथ एक ऐसी भी शक्ति है कि जिसके कारण यह आत्मा न तो किसी का कार्य है और न किसी का कारण ही है। **किसी का कार्य व किसी का कारण नहीं होना ही अकार्यकारणत्व-शक्ति का स्वभाव है, कार्य है ।।१४।।**

१६. त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति

अन्यूनातिरिक्तस्वरूपनियतत्वरूपा त्यागोपादानशून्यत्वशक्तिः।

इसप्रकार अकार्यकारणत्वशक्ति की चर्चा के उपरान्त अब परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति की चर्चा करते हैं -

इस पन्द्रहवीं परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति की परिभाषा आत्मख्याति में इसप्रकार दी गई है –

परनिमित्तिक ज्ञेयाकारों के ग्रहण करने और स्वनिमित्तिक ज्ञानाकारों के ग्रहण कराने के स्वभावरूप परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति है।

देखो, पहले अकार्यकारणत्वशक्ति में यह बताया गया था कि आत्मा न तो पर का कार्य है और न पर का कारण। अब इस परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति में यह बताया जा रहा है कि पर का कार्य या कारण नहीं होने पर भी यह आत्मा पर को जानता है और पर के द्वारा जाना भी जाता है। न केवल पर को जानता है और पर के द्वारा जाना जाता है; अपितु स्वयं को भी जानता है और स्वयं के द्वारा जाना भी जाता है। इसप्रकार इस आत्मा का स्वभाव स्व और पर के जानने एवं स्व और पर के द्वारा जानने में आने का है।

मैं स्वयं को जानूँ और पर को भी जानूँ; इसीप्रकार स्वयं के द्वारा जाना जाऊँ और पर के द्वारा भी जाना जाऊँ– इसप्रकार इसमें चार बिन्दु हो गये।

पहला स्वयं को जानना, दूसरा पर को जानना, तीसरा स्वयं के द्वारा जानने में आना और चौथा पर के द्वारा जानने में आना। इन चारों प्रकार की योग्यता का नाम ही परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति है॥१५॥

परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति के उपरान्त अब त्यागोपादानशून्यत्व-शक्ति की चर्चा करते हैं –

१७. अगुरुलघुत्वशक्ति

षट्स्थानपतितवृद्धिहानिपरिणतस्वरूपप्रतिष्ठत्वकारणविशिष्टगुणात्मिका अगुरुलघुत्वशक्तिः।

त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया है –

जो न तो कम है और न अधिक ही है – ऐसे सुनिश्चित स्वरूप में रहने रूप है स्वरूप जिसका, वह त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति है।

यह भगवान आत्मा स्वयं में परिपूर्ण तत्त्व है, इसमें न तो कोई कमी है और न कुछ अधिकता ही है। यदि कमी होती तो ग्रहण करना अनिवार्य हो जाता और अधिकता होती तो उसका त्याग करना भी अनिवार्य हो जाता।

ग्रहण और त्याग क्रमशः कमी और अधिकता के सूचक हैं। यदि हमें कुछ ग्रहण करने का भाव है तो इसका अर्थ यह हुआ कि हम अपने स्वभाव में कुछ न्यूनता का अनुभव करते हैं। इसीप्रकार त्यागने के भाव के साथ भी यह प्रतीति कार्य करती है कि हममें कुछ अधिकता है, जिसे छोड़ना आवश्यक है।

त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे त्यागा जाये और ऐसी कोई कमी भी नहीं है कि बाहर से उसकी पूर्ति करनी पड़े। भगवान आत्मा के इस परिपूर्ण स्वभाव का नाम ही त्यागोपादान-शून्यत्व शक्ति है।

त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति का कथन निश्चयनयाश्रित होने से परमार्थ है, सत्यार्थ है और ग्रहण-त्याग की चर्चा व्यवहारनयाश्रित होने से असत्यार्थ है, अभूतार्थ है॥१६॥

त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति समझने के उपरान्त अब अगुरुलघुत्वशक्ति की चर्चा करते हैं –

अगुरुलघुत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया है –

१८. उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति

क्रमाक्रमवृत्तवृत्तित्वलक्षणा उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्तिः।

अगुरुलघुत्वशक्ति षट्स्थानपतित वृद्धि-हानि रूप से परिणमित स्वरूप प्रतिष्ठत्व का कारणरूप विशेष गुणात्मक है।

न केवल आत्मा में, अपितु प्रत्येक पदार्थ की प्रत्येक पर्याय में षट्गुणी वृद्धि और षट्गुणी हानि निरन्तर हुआ करती है। **गजब की बात तो यह है कि यह वृद्धि और हानि एक ही वस्तु में एकसाथ ही होती है।**

१. अनंतगुणवृद्धि २. असंख्यगुणवृद्धि ३. संख्यगुणवृद्धि ४. संख्य-भागवृद्धि ५. असंख्य-भागवृद्धि और ६. अनंतभागवृद्धि – ये छह प्रकार की वृद्धियाँ हैं।

इसीप्रकार १. अनंतगुणहानि २. असंख्यगुणहानि ३. संख्यगुणहानि ४. संख्यभागहानि ५. असंख्यभागहानि और ६. अनंतभागहानि – ये छहप्रकार की हानियाँ हैं।

इसप्रकार छह वृद्धि और छह हानि कुल मिलाकर बारह प्रकार की वृद्धि-हानि निरन्तर प्रत्येक आत्मा में, उनके गुणों और उनकी पर्यायों में होती रहती है; क्योंकि उनमें अगुरु-लघुत्वशक्ति का रूप है, उनमें अगुरुलघुत्वशक्ति व्याप्त है।

यह बात केवलज्ञानगम्य है, क्षयोपशमज्ञान में तो मात्र आगम से ही जानी जाती है; अतः इसके बारे में कुछ विशेष कहना संभव नहीं है। बस, इतना समझ लेना कि आत्मा में एक इसप्रकार की भी शक्ति है।

इस संदर्भ में विशेष जानने की भावना हो तो गोम्मटसारादि करणानुयोग के ग्रन्थों का स्वाध्याय करना चाहिए।

इसप्रकार अगुरुलघुत्वशक्ति की चर्चा के उपरान्त अब उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति की चर्चा करते हैं–

इस अठारहवीं उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति की चर्चा आत्मख्याति में

१९. परिणामशक्ति

द्रव्यस्वभावभूतध्रौव्यव्ययोत्पादालिंगितसदृशविसदृशरूपैकास्तित्व-मात्रमयी परिणामशक्तिः।

इसप्रकार की गई है – **क्रमवृत्ति और अक्रमवृत्तिरूप वर्तना है लक्षण जिसका, वह उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति है।**

प्रत्येक द्रव्य; गुण और पर्यायवाला होता है तथा सत् द्रव्य का लक्षण है; जो उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व से युक्त होता है।

यहाँ यह बताया जा रहा है कि अनन्त शक्तियों से सम्पन्न भगवान आत्मा में एक ऐसी भी शक्ति है कि जिसके कारण यह भगवान आत्मा स्वयं ही उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व से सहित है। उक्त शक्ति का नाम ही उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व शक्ति है।

तात्पर्य यह है कि इस भगवान आत्मा को स्वयं का अस्तित्व धारण करने के लिए, स्वयं को कायम रखने के लिए पर की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है। न तो ध्रुव अस्तित्व को टिकाये रखने में पर के सहयोग की आवश्यकता है और न स्वयं में प्रतिसमय होनेवाले उत्पाद-व्ययरूप परिवर्तन करने के लिए ही पर के सहयोग की अपेक्षा है; क्योंकि यह भगवान आत्मा इस शक्ति के कारण स्वभाव से ही उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व सम्पन्न है।।१८।।

इस उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति को समझाने के उपरान्त अब परिणाम-शक्ति की चर्चा करते हैं –

इस उन्नीसवीं परिणामशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

द्रव्य के स्वभावभूत उत्पादव्ययध्रौव्य से आलिंगित सदृश और विसदृश एक रूप वाली अस्तित्वमयी परिणामशक्ति है।

उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व द्रव्य के स्वभाव हैं। इनमें ध्रुवत्वभाव सदृश परिणाम है, सदा एक जैसा रहनेवाला परिणाम है तथा उत्पाद-

व्यय विसदृश परिणाम हैं; क्योंकि वे दोनों परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले हैं। एक का स्वभाव उत्पन्न होनेरूप है और दूसरे का स्वभाव नाश होने रूप है; इसकारण वे परस्पर विरुद्धस्वभाववाले हैं, विसदृशस्वभाववाले हैं।

उत्पाद-व्यय विसदृश व ध्रौव्य सदृशस्वभाववाला होने पर भी तीनों एक ही हैं; क्योंकि अस्तित्व तीनों का एक रूप में ही है। तीनों का नाम ही परिणाम है।

कुछ लोग परिणमन को ही परिणाम या भाव समझते हैं; किन्तु परिणाम व भाव शब्द परिणमित होनेवाले उत्पाद-व्यय के लिए भी प्रयुक्त होता है और अपरिणामी ध्रुव के लिए भी प्रयुक्त होता है।

परिणमित होकर भी ध्रुव रहना और ध्रुव रहकर भी परिणमित होना ही परिणामशक्ति का कार्य है अथवा परिणामशक्ति है।

कुछ लोग उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति और परिणामशक्ति में भेद नहीं कर पाते हैं। इन दोनों में भेद करना आसान भी नहीं है; क्योंकि उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति को क्रमाक्रमवृत्तवृत्ति लक्षणवाली कहा गया है और परिणामशक्ति को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से आलिंगित सदृश-विसदृश परिणामों की एकरूपतारूप कहा गया है।

दोनों शक्तियों में उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व तो है ही। इस कारण भेद समझने में कठिनाई होती है; परन्तु एक शक्ति में क्रमवर्ती पर्यायें और अक्रमवर्ती गुणोंवाले उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व से संयुक्त द्रव्यस्वभाव की चर्चा है तो दूसरी शक्ति में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में विद्यमान सदृशता-विसदृशता की एकरूपता की चर्चा है।

उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति का कार्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से संयुक्त होना मात्र है और परिणामशक्ति का कार्य परस्पर विरुद्ध-अविरुद्ध परिणामों का टिका रहना और परिणमित होते रहना है। ध्रुवरूप परिणाम तो अपरिणामी ही है, वह सदा अपरिणामी ही रहे – यह भी परिणामशक्ति का कार्य है और निरन्तर बदलनेवाले उत्पाद-

२०. अमूर्तत्वशक्ति

कर्मबंधव्यपगमव्यंजितसहजस्पर्शादिशून्यात्मप्रदेशात्मिका अमूर्तत्व शक्तिः।

व्ययरूप परिणाम अपने सुनिश्चितक्रमानुसार बदलते रहें, एक समय को भी बदले बिना न रहें – यह भी परिणामशक्ति का कार्य है।

ध्रुवरूप में रंचमात्र भी परिवर्तन नहीं होना और उत्पाद-व्ययरूप में निरन्तर परिणमित होते रहना आत्मवस्तु का मूलस्वरूप है। आत्मवस्तु के इसी मूलस्वरूप का नाम परिणामशक्ति है।

परिणामशक्ति के स्वरूप को जानने का पहला लाभ तो यह है कि हमारा मूल ध्रुवस्वभाव इसी शक्ति के कारण पूर्ण सुरक्षित है।

वह अनादि से जैसा है, अनन्त काल तक वैसा ही रहेगा; न तो उसका नाश ही हो सकता है और न उसमें कोई बदलाव ही होता है।

दूसरे हममें होनेवाले सुनिश्चित परिवर्तन के लिए भी हमें पर की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि इस परिणामशक्ति के कारण मूल स्वभाव अर्थात् स्वभाव की ध्रुवता सहज ही कायम रहती है और पर्यायों में परिवर्तन भी सहज ही हुआ करता है॥१९॥

इसप्रकार परिणामशक्ति की चर्चा के करने के उपरान्त अब अमूर्तत्व-शक्ति की चर्चा करते हैं।

इस बीसवीं अमूर्तत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है– **यह अमूर्तत्वशक्ति कर्मबंध के अभाव से व्यक्त सहज स्पर्शादिशून्य आत्मप्रदेशात्मक है।**

उक्त अमूर्तत्वशक्ति के कारण भगवान आत्मा रूप, रस, गंध और स्पर्श से रहित अमूर्त पदार्थ है। यह देह स्पर्शादिमय होने से मूर्त है और भगवान आत्मा अमूर्त है; अतः आत्मा देहादि से भिन्न ही है। **आत्मद्रव्य के सभी गुणों और पर्यायों में अमूर्तत्वशक्ति का रूप होने से सभी गुण और पर्यायें भी अमूर्त हैं।**

२१-२२. अकर्तृत्वशक्ति और अभोक्तृत्वशक्ति

सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामकरणोपरमात्मिका अकर्तृत्वशक्तिः। सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामानुभवोपरमात्मिका अभोक्तृत्वशक्तिः।

इसप्रकार अमूर्तत्वशक्ति का स्वरूप समझने के उपरान्त अब अकर्तृत्व शक्ति और अभोक्तृत्वशक्ति का स्वरूप समझते हैं –

इस इक्कीसवीं अकर्तृत्वशक्ति और बाईसवीं अभोक्तृत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

ज्ञानभाव से भिन्न कर्मोदय से होनेवाले रागादि विकारी भावों के कर्तृत्व से रहित होनेरूप अकर्तृत्वशक्ति है। इसीप्रकार ज्ञानभाव से भिन्न कर्मोदय से होनेवाले रागादि विकारी परिणामों के अनुभव से, भोक्तृत्व से रहित होनेरूप अभोक्तृत्वशक्ति है।

दोनों शक्तियों के उक्त स्वरूप पर दृष्टिपात करने से एक बात तो यह स्पष्ट होती है कि दोनों के स्वरूप में **करणोपरम** और **अनुभवोपरम** के अलावा कोई अन्तर नहीं है। अभोक्तृत्वशक्ति की परिभाषा में अकर्तृत्व-शक्ति की परिभाषा से **करणोपरम** पद को निकाल कर उसके स्थान पर **अनुभवोपरम** पद रख दिया गया है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञानभाव से भिन्न कर्मोदय से होनेवाले रागादि विकारी भावों के कर्तृत्व से रहित अकर्तृत्वशक्ति है और उन्हीं के भोक्तृत्व से रहित अभोक्तृत्वशक्ति है। निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि अकर्तृत्वशक्ति के कारण आत्मा रागादि का अकर्ता है और अभोक्तृत्वशक्ति के कारण रागादि का अभोक्ता है॥२१-२२॥

इसप्रकार अकर्तृत्वशक्ति और अभोक्तृत्वशक्ति की चर्चा के उपरान्त अब निष्क्रियत्वशक्ति की चर्चा करते हैं –

इस तेईसवीं निष्क्रियत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार दिया गया है –

२३. निष्क्रियत्वशक्ति

सकलकर्मोपरमप्रवृत्तात्मप्रदेशनैष्पंद्यरूपा निष्क्रियत्वशक्तिः।

निष्क्रियत्वशक्ति समस्त कर्मों के उपरम (अभाव) से प्रवर्तित होने वाली आत्मप्रदेशों की निस्पन्दतास्वरूप है।

अकर्तृत्व और अभोक्तृत्व शक्तियों में मोहनीय कर्मोदयजन्य रागादि भावों के करने से उपरम (विराम-अभाव) और भोगने के उपरम (विराम-अभाव) की बात कही थी तो अब यहाँ निष्क्रियत्वशक्ति में सम्पूर्ण कर्मों के उपरम (विराम-अभाव) से होनेवाली आत्मप्रदेशों की अकंपदशा की बात कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि **भगवान आत्मा कर्मोदयजन्य आत्मप्रदेशों के कंपनरूप योगों से भी रहित है, अकंप-स्वभावी है, निष्क्रिय है।**

यहाँ क्रिया शब्द का अर्थ न तो क्षेत्र से क्षेत्रान्तररूप गति से है और न काल से कालान्तररूप परिणमन से ही है; यहाँ तो आत्मा के प्रदेशों में होनेवाले कंपन का नाम ही क्रिया है। भगवान आत्मा ऐसी क्रिया से रहित है; अतः निष्क्रिय है, निष्क्रियत्वशक्ति से सम्पन्न है।

अकर्तृत्व और अभोक्तृत्व शक्ति में आत्मा को रागादिविभाव के अभावस्वरूप अमल बताया था और निष्क्रियत्वशक्ति में आत्मप्रदेशों की चंचलता के अभावरूप अचल बताया जा रहा है।

यह भगवान आत्मा अमल भी है और अचल भी है। पर्याय में घातिकर्मों के अभाव से पूर्ण अमलता प्रगट होती है और अघाति-कर्मों के अभाव से अचलता प्रगट होती है। अरहंत भगवान पूर्णतः अमल हैं, पर अचल नहीं; किन्तु सिद्ध भगवान अमल भी हैं और अचल भी।

यह तो पर्याय में प्रगट अमलता और अचलता की बात है; किन्तु यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि भगवान आत्मा का स्वभाव त्रिकाल अमल और अचल है।

जिसप्रकार की अकंपदशा सिद्ध भगवान में प्रगट हुई है; उसीप्रकार

की अचलता आत्मा के स्वभाव में सदा विद्यमान है; क्योंकि उसमें निष्क्रियत्वशक्ति है। निष्क्रियत्वशक्ति का कार्य ही यह है कि वह आत्मा को सदा अचल रखे॥२३॥

२४. नियतप्रदेशत्वशक्ति

आसंसारसंहरणविस्तरणलक्षितकिंचिदूनचरमशरीरपरिमाणावस्थित-लोकाकाशसम्मितात्मावयवत्वलक्षणा नियतप्रदेशत्वशक्तिः।

इसप्रकार निष्क्रियत्वशक्ति के उपरान्त अब नियतप्रदेशत्वशक्ति की चर्चा करते हैं –

इस चौबीसवीं नियतप्रदेशत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है –

अनादिकाल से संसार-अवस्था में संकोच-विस्तार से लक्षित और सिद्ध-अवस्था में चरम शरीर से किंचित् न्यून परिमाण तथा लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या के समान असंख्यात प्रदेशवाला आत्मा का अवयव है लक्षण जिसका, वह नियतप्रदेशत्वशक्ति है।

तात्पर्य यह है कि असंख्यातप्रदेशी लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं; उतने ही असंख्यात प्रदेश इस भगवान आत्मा में हैं। संसार-अवस्था में वे प्रदेश देहप्रमाण रहते हैं। जितनी देह हो, उतने ही आकार में आत्मा के प्रदेश समा जाते हैं। छोटी देह में संकुचित हो जाते हैं और बड़ी देह में फैल जाते हैं; पर रहते हैं देहप्रमाण ही तथा उनकी जो असंख्यात संख्या है, उसमें कोई कमी-वेशी नहीं होती। सिद्ध-अवस्था में देह छूट जाने पर अन्तिम देह के आकार में रहते हैं, पर अन्तिम देह से कुछ न्यून (कम) आकार में रहते हैं। **आत्मा में जितने प्रदेश हैं, सदा उतने ही रहते हैं, कम-अधिक नहीं होते; विभिन्न आकारों में रहने पर भी वे सदा नियत ही हैं, जितने थे, उतने ही रहते हैं।**

आत्मा के असंख्यप्रदेशों का उक्त कथनानुसार आकार रहना ही नियतप्रदेशत्वशक्ति का कार्य है॥२४॥

२५. स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति

सर्वशरीरैकस्वरूपात्मिका स्वधर्मव्यापकत्वशक्तिः।

नियतप्रदेशत्वशक्ति के विवेचन के उपरान्त अब स्वधर्मव्यापकत्व-शक्ति का विवेचन करते हैं –

इस पच्चीसवीं स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार दिया गया है –

सभी शरीरों में एकरूप रहनेवाली स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति है।

यह भगवान आत्मा अपने धर्मों में ही व्याप्त होता है, शरीरादि में नहीं; क्योंकि इसमें स्वधर्मव्यापकत्व नाम की एक शक्ति है।

इसके नाम से ही स्पष्ट है कि इसके कारण यह आत्मा स्वधर्मों में ही व्यापक होता है।

यद्यपि यह आत्मा अनादिकाल से अबतक अनंत शरीरों में रहा है; तथापि यह उनमें कभी भी व्याप्त नहीं हुआ; शरीररूप न होकर सदा ज्ञानानन्दस्वभावी ही रहा है।

यह भगवान आत्मा इस स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति के कारण अपने अनंत गुणों में, धर्मों में, शक्तियों और निर्मलपर्यायों में तो व्यापता है; पर शरीरों और रागादि विकारी परिणामों में व्याप्त नहीं होता।

रागादि होते हुए भी, शरीरों में रहता हुआ भी उसमें व्याप्त नहीं होता, स्वसीमा में ही रहता है॥२५॥

इसप्रकार स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति का निरूपण करने के उपरान्त अब साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति का निरूपण करते हैं –

इस छब्बीसवीं साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

स्व और पर – दोनों में परस्पर समान, असमान और समानासमान

२६. साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति

स्वपरसमानासमानसमानासमानत्रिविधभावधारणात्मिका साधारणासाधारणसाधारणा साधारणधर्मत्वशक्तिः।

– ऐसे तीन प्रकार के भावों के धारण करनेरूप यह साधारण-असाधारण -साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति है।

सामान्य गुणों को साधारण धर्म कहते हैं और विशेष गुणों को असाधारण धर्म कहते हैं और जिन धर्मों में सामान्यपना और विशेषपना – दोनों विशेषतायें प्राप्त हों; उन धर्मों को साधारणासाधारण धर्म कहते हैं।

सभी द्रव्यों में पाये जाने के कारण अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व आदि गुण या धर्म साधारण धर्म हैं। आत्मा से भिन्न पुद्गलादि पदार्थों में नहीं पाये जाने और केवल आत्मा में ही पाये जाने के कारण ज्ञान, दर्शन, सुखादि असाधारण धर्म हैं तथा मात्र पुद्गल में न पाये जानेवाला अमूर्तत्व पुद्गल का असाधारण धर्म और आत्मा, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश और काल द्रव्यों में पाये जाने के कारण वह साधारण धर्म भी है; इसप्रकार अमूर्तत्व साधारणासाधारण धर्म है ॥२६॥

अस्तित्वादि साधारण, ज्ञानादि असाधारण और अमूर्तत्वादि साधारणा-साधारण धर्म भगवान आत्मा में एकसाथ होने से यह आत्मा साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणशक्ति से सम्पन्न है।

अस्तित्वादि गुण सभी द्रव्यों में पाये जाने के कारण साधारण, अकेले आत्मा में पाये जाने के कारण ज्ञानादि गुण असाधारण तथा सभी द्रव्यों में न पाये जाने और पाँच द्रव्यों में पाये जाने के कारण अमूर्तत्व साधारणासाधारण गुण है। इसप्रकार इस भगवान आत्मा में साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति है।

इसप्रकार साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति का निरूपण करने के उपरान्त अब अनंतधर्मत्वशक्ति का निरूपण करते हैं–

२७-२८. अनंतधर्मत्वशक्ति और विरुद्धधर्मत्वशक्ति

विलक्षणानंतस्वभावभावितैकभावलक्षणा अनंतधर्मत्वशक्तिः।

तदतद्रूपमयत्वलक्षणा विरुद्धधर्मत्वशक्तिः।

इस सत्ताईसवीं अनंतधर्मत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

परस्पर भिन्न लक्षणोंवाले अनंत स्वभावों से भावित – ऐसा एक भाव है लक्षण जिसका – ऐसी अनंतधर्मत्वशक्ति है।

साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति से यह बात तो स्पष्ट हो गई थी कि भगवान आत्मा में साधारण, असाधारण और साधारण-असाधारण – ये तीनप्रकार के धर्म (गुण) पाये जाते हैं; पर यह स्पष्ट नहीं हो रहा था कि वे धर्म हैं कितने ? अर्थात् इस एक आत्मा में कितने धर्मों को धारण करने की शक्ति है ? अतः अनंतधर्मत्वशक्ति में यह बताया जा रहा है कि **इस भगवान आत्मा में अनंत धर्मों को धारण करने की शक्ति है। विभिन्न लक्षणों के धारक विभिन्न अनंतगुणों को धारण करने की शक्ति का नाम ही अनंतधर्मत्वशक्ति है ।।२७।।**

अनंतधर्मत्वशक्ति के निरूपण के उपरान्त अब विरुद्धधर्मत्वशक्ति का निरूपण करते हैं –

इस अट्ठाईसवीं विरुद्धधर्मत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है – **तद्रूपमयता और अतद्रूपमयता जिसका लक्षण है, उस शक्ति का नाम विरुद्धधर्मत्वशक्ति है।**

अनंतधर्मत्वशक्ति में यह तो स्पष्ट हो गया था कि भिन्न-भिन्न लक्षणवाले अनंत धर्म आत्मा में रहते हैं; पर यह बात स्पष्ट नहीं हो पाई थी कि क्या परस्पर विरुद्धस्वभाववाले धर्म भी एकसाथ एक आत्मा में रह सकते हैं। यह विरुद्धधर्मत्वशक्ति यह बताती है कि न केवल अनंत धर्म किन्तु परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले अनंत धर्मयुगल भी आत्मा

२९-३०. तत्त्वशक्ति और अतत्त्वशक्ति

तद्रूपभवनरूपा तत्त्वशक्तिः। अतद्रूपभवनरूपा अतत्त्वशक्तिः।

में एकसाथ रहते हैं। **विभिन्न लक्षणोंवाले अनंतगुणों को धारण करना अनंतधर्मत्वशक्ति का कार्य है और परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले अनंत धर्मयुगलों को धारण करना विरुद्धधर्मत्वशक्ति का कार्य है।**

इस विरुद्धधर्मत्वशक्ति में मात्र यही बताया गया है कि इस भगवान आत्मा में न केवल विभिन्न लक्षणवाले गुण एकसाथ रहते हैं; अपितु यह भी स्पष्ट किया गया है कि **परस्परविरुद्ध प्रतीत होनेवाले अनंत धर्म भी एकसाथ ही रहते हैं** ॥२८॥

इसप्रकार विरुद्धधर्मत्वशक्ति के निरूपण के उपरान्त अब तत्त्वशक्ति और अतत्त्वशक्ति की चर्चा करते हैं –

इन उनतीसवीं और तीसवीं तत्त्वशक्ति और अतत्त्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

तद्‌भवनरूप तत्त्वशक्ति और अतद्‌भवनरूप अतत्त्वशक्ति है।

२५वीं स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति में यह बताया गया था कि यह भगवान आत्मा अपने सभी धर्मों (गुणों) में व्याप्त है। उसके बाद २६वीं शक्ति में यह बताया गया कि जिन धर्मों में आत्मा व्याप्त है; उन धर्मों में कुछ धर्म साधारण, कुछ धर्म असाधारण और कुछ साधारणासाधारण हैं। फिर २७ वीं अनंतधर्मत्वशक्ति में यह बताया गया है कि वे साधारण, असाधारण और साधारणासाधारण धर्म अनंत हैं। उसके बाद २८ वीं विरुद्धधर्मत्वशक्ति में कहा गया है कि उन अनंत धर्मों में कुछ धर्म परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं। ऐसे परस्पर विरोधी धर्मों को धारण करने की शक्ति इस भगवान आत्मा में है, जिसका नाम है विरुद्ध-धर्मत्वशक्ति।

इन विरुद्ध धर्मों में तत् और अतत् धर्मों की चर्चा करते हुए इन

तत्त्वशक्ति और अतत्त्वशक्ति में यह बताया जा रहा है कि इस भगवान आत्मा में जो भी धर्म हैं; उन सभी के होनेरूप तत्त्वशक्ति है और उनसे भिन्न पदार्थों और उन पदार्थों के धर्मों रूप नहीं होने की शक्ति का नाम अतत्त्वशक्ति है।

ये तत्त्व और अतत्त्व शक्तियाँ परस्पर विरुद्ध शक्तियाँ हैं। इसके भी आगे आनेवाली एकत्व-अनेकत्व और भाव-अभाव आदि शक्तियाँ भी परस्पर विरुद्ध शक्तियाँ हैं। इसप्रकार परस्पर विरुद्धधर्मत्व-शक्ति के उपरान्त इन तत्त्व-अतत्त्व आदि परस्पर विरुद्ध शक्तियों का प्रतिपादन प्रसंगोचित ही है। इन परस्पर विरुद्ध शक्तियों के प्रतिपादन में एक क्रमिक विकास है। गहराई से देखने पर वह सहज ही ख्याल में आता है। इसप्रकार यह भगवान आत्मा तत्त्वशक्ति के कारण स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमय है और निरन्तर परिणमित भी होता है तथा अतत्त्व-शक्ति के कारण न तो परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव रूप से है और न उनरूप, उनकी पर्यायोंरूप परिणमित ही होता है।

इसप्रकार स्वयं की अनंतशक्तियोंरूप होना तत्त्वशक्ति का कार्य है और पररूप नहीं होना अतत्त्वशक्ति का कार्य है। इसप्रकार तत्त्वशक्ति के कारण आत्मा ज्ञानादि गुणों रूप और उनके निर्मल परिणमन रूप है और अतत्त्वशक्ति के कारण रूपादि और रागादिरूप नहीं है।

तात्पर्य यह है कि स्वचतुष्टयरूप रहना और परचतुष्टयरूप नहीं होना इस आत्मा का सहज स्वभाव है और आत्मा के इस सहज स्वभाव का नाम ही तत्त्वशक्ति व अतत्त्वशक्ति है। स्व की अस्ति तत्त्वशक्ति का और पर की नास्ति अतत्त्वशक्ति का कार्य है। **इन शक्तियों के ज्ञान-श्रद्धान से स्वरूप में रहने की चिन्ता और पररूप न हो जाने का भय समाप्त हो जाता है।**

ध्यान रखने की विशेष बात यह है कि आरंभ में आनेवाली दृशि, ज्ञान, सुख, वीर्य आदि शक्तियाँ गुणरूप शक्तियाँ हैं और ये तत्त्व-अतत्त्व, एक-अनेक आदि शक्तियाँ धर्मरूप शक्तियाँ हैं।

परिशिष्ट के आरम्भिक अंश में ज्ञानमात्र आत्मा में अनेकान्तपना सिद्ध करते हुए जिन १४ भंगों की चर्चा की गई है; उन भंगों में चर्चित तत्-अतत्, एक-अनेक आदि धर्म ही यहाँ तत्त्व-अतत्त्व, एकत्व-अनेकत्व आदि शक्तियों के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

वहाँ जो अनेकान्त की चर्चा की गई है, उसमें अनेकान्त शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की गई है। पहली अनंत गुणों के समुदाय के रूप में और दूसरे परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्मयुगलों के रूप में। उसी को आधार बनाकर यहाँ **पहले गुणरूप शक्तियों की चर्चा की गई और बाद में धर्मरूप शक्तियों पर प्रकाश डाला जा रहा है।**

प्रश्न : क्या शक्तियाँ गुण और धर्मरूप ही होती हैं ?

उत्तर : गुण और धर्मों के अतिरिक्त कुछ शक्तियाँ स्वभाव रूप भी होती हैं। त्यागोपादानशून्यत्व जैसी शक्तियाँ स्वभावरूप हैं।

प्रश्न : त्यागोपादानशून्यत्व जैसी शक्तियाँ स्वभावरूप क्यों हैं ?

उत्तर : क्योंकि त्यागोपादानशून्यत्व जैसी शक्तियों की न तो पर्यायें होती हैं और उनका कोई प्रतिपक्षी होता है। जिन शक्तियों की पर्यायें होती हैं और जिनका प्रतिपक्षी नहीं होता; वे गुणरूप शक्तियाँ हैं और जिनकी पर्यायें तो नहीं होतीं, पर प्रतिपक्षी अवश्य होता है, वे धर्मरूप शक्तियाँ हैं।

जिनकी न पर्यायें हों और न प्रतिपक्षी ही हों; वे स्वभावशक्तियाँ हैं। इस त्यागोपादानशून्यत्व-शक्ति की न तो पर्यायें होती हैं और न कोई प्रतिपक्षी ही होता है; इसकारण वे स्वभावरूप शक्तियाँ हैं। बस बात इतनी ही है कि भगवान आत्मा का ऐसा स्वभाव ही है कि वह न तो किसी से कुछ ग्रहण ही करता है और न किसी का त्याग ही करता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि शक्तियों में गुण, धर्म और स्वभाव – सभी को समाहित कर लिया गया है॥२९-३०॥

इसप्रकार तत्त्वशक्ति और अतत्त्वशक्ति का निरूपण करने के उपरान्त अब एकत्वशक्ति और अनेकत्वशक्ति का निरूपण करते हैं –

३१-३२. एकत्वशक्ति और अनेकत्वशक्ति

अनेकपर्यायव्यापकैकद्रव्यमयत्वरूपा एकत्वशक्तिः। एकद्रव्य-व्याप्यानेकपर्यायमयत्व रूपा अनेकत्वशक्तिः।

इन इकतीस और बत्तीसवीं एकत्व और अनेकत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

अनेक पर्यायों में व्यापक और एकद्रव्यमयपने को प्राप्त एकत्वशक्ति है और एक द्रव्य से व्याप्त (व्यापने योग्य) अनेक पर्यायोंमय अनेकत्व शक्ति है।

इस भगवान आत्मा में एक ऐसी शक्ति है कि जिसके कारण यह भगवान आत्मा अपनी अनेक पर्यायों में व्याप्त होते हुए भी अपने एकत्व को नहीं छोड़ता। आत्मा के इसप्रकार के स्वभाव का नाम ही एकत्वशक्ति है।

इसीप्रकार इसमें एक शक्ति ऐसी भी है कि जिसके कारण यह भगवान आत्मा स्वयंरूप एक द्रव्य में व्याप्त रहने पर भी अनेक पर्यायरूप से परिणमित हो जाता है। आत्मा के इसप्रकार के सामर्थ्य का नाम अनेकत्वशक्ति है।

तात्पर्य यह है कि यह भगवान आत्मा एक रहकर भी अनेक पर्यायोंरूप परिणमित होने की शक्ति से सम्पन्न है तथा अनेक पर्यायोंरूप परिणमित होते हुए भी इसकी एकता भंग नहीं हो – ऐसी शक्ति से भी सम्पन्न है।

यद्यपि एकत्व और अनेकत्व भाव परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं; तथापि इस भगवान आत्मा में एकत्व और अनेकत्व – दोनों ही पाये जाते हैं। वह अनेक पर्यायों में परिणमित होते हुए भी एक ही रहता है और एक रहते हुए भी अनेक पर्यायों में परिणमन की सामर्थ्य रखता है; क्योंकि यह आत्मा अनेक पर्यायों में व्यापक एकद्रव्यमय है और एक द्रव्य में व्याप्त अनेकपर्यायमय भी है।

३३-३८. भाव-अभावादि छह शक्तियाँ

३३. भूतावस्थत्वरूपा भावशक्तिः ३४. शून्यावस्थत्वरूपा अभाव-शक्तिः ३५. भवत्पर्यायव्ययरूपा भावाभावशक्तिः ३६. अभवत्पर्यायो-दयरूपा अभावभावशक्तिः ३७. भवत्पर्यायभवनरूपा भाव-भावशक्तिः ३८. अभवत्पर्यायाभवनरूपा अभावाभावशक्तिः।

इस आत्मा की अनेक पर्यायों में व्यापक एकद्रव्यमयता एकत्वशक्ति है और एकद्रव्य में व्याप्य अनेकपर्यायमयता अनेकत्वशक्ति है।

इसप्रकार एकत्व और अनेकत्वशक्ति की चर्चा करने के उपरान्त अब भावशक्ति, अभावशक्ति, भावाभावशक्ति, अभावभावशक्ति, भाव-भावशक्ति और अभावाभावशक्ति – इन छह शक्तियों की चर्चा करते हैं–

३३ वीं भावशक्ति से ३८ वीं अभावाभावशक्ति तक इन छह शक्तियों का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार दिया गया है –

वर्तमान अवस्था से युक्त होनेरूप भावशक्ति, शून्य अवस्था से युक्त होने रूप अभावशक्ति, वर्तती पर्याय के व्ययरूप भावाभावशक्ति, पूर्व में न वर्तती पर्याय के उदयरूप अभावभावशक्ति, होने योग्य पर्याय के होने रूप भावभावशक्ति और नहीं होने योग्य पर्याय के नहीं होने रूप अभावाभाव-शक्ति है।

ये भाव-अभावादि शक्तियाँ भी सामान्यस्वभाव रूप होने से सभी (छह) द्रव्यों में पाई जाती हैं। इनके स्वरूप की सम्यक् जानकारी पर्यायों की क्रमबद्धता के निर्णय में भी अत्यन्त उपयोगी है।

'**क्रमबद्धपर्याय**' नामक मेरी कृति में इनका स्वरूप इसप्रकार स्पष्ट किया है –

''प्रत्येक द्रव्य में एक ऐसी शक्ति है, जिसके कारण द्रव्य अपनी वर्तमान अवस्था से युक्त होता है अर्थात् उसकी निश्चित अवस्था होती ही है; उसे भावशक्ति कहते हैं।

प्रत्येक द्रव्य में एक ऐसी भी शक्ति होती है, जिसके कारण वर्तमान अवस्था के अतिरिक्त अन्य कोई अवस्था नहीं होती; इस शक्ति का नाम अभावशक्ति है।

उक्त दोनों शक्तियों के कारण प्रत्येक द्रव्य की प्रतिसमय सुनिश्चित पर्याय ही होती है, अन्य नहीं।

प्रत्येक द्रव्य में एक ऐसी भी शक्ति है, जिसके कारण वर्तमान पर्याय का नियम से आगामी समय में अभाव हो जायेगा; उस शक्ति का नाम है भावाभावशक्ति तथा एक शक्ति ऐसी भी है, जिसके कारण आगामी समय में होनेवाली पर्याय नियम से उत्पन्न होगी ही। इस शक्ति का नाम है अभावभावशक्ति।

जो पर्याय जिस समय होनी है, वह पर्याय उस समय नियम से होगी ही, ऐसी भी एक शक्ति प्रत्येक द्रव्य में है, जिसका नाम है भावभावशक्ति तथा एक शक्ति ऐसी भी है कि जिसके कारण जो पर्याय जिस समय नहीं होनी है, वह नियम से नहीं होगी, उस शक्ति का नाम है अभावाभावशक्ति।

उक्त छह शक्तियों का स्वरूप यह सिद्ध करता है कि जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस समय, अपने उपादान के अनुसार जैसी होनी होती है; वह स्वयं नियम से उसी समय, वैसी ही होती है; उसमें परपदार्थ की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं होती।"

सभी पदार्थों पर घटित होनेवाली इन भाव-अभावादि शक्तियों की चर्चा आत्मख्याति में आत्मा की विशिष्ट शक्तियों के संदर्भ में ही हुई है। सैंतालीस शक्तियों में आरंभिक गुण-शक्तियों की चर्चा में आत्मा के ज्ञानस्वभाव का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। तात्पर्य यह है कि **आत्मा स्व और पर दोनों को देखता-जानता है, दोनों उसके ज्ञान-दर्शन दर्पण में झलकते हैं; किसी को देखने-जानने के लिए उसे उन ज्ञेय पदार्थों के पास नहीं जाना पड़ता और न उन ज्ञेय पदार्थों को**

आत्मा के समीप ही आना पड़ता है। सहज ही ज्ञेय-ज्ञायक संबंध रहता है।

न केवल अपने आत्मा में स्व और पर को जानने की शक्ति है, अपितु परजीवों के ज्ञान का ज्ञेय बनने की भी शक्ति है। इसप्रकार यह आत्मा स्व और पर – दोनों को जानता है और स्व और पर – दोनों के द्वारा जाना भी जाता है। पर पदार्थों में थोड़े-बहुतों को ही नहीं; अपितु जगत के सम्पूर्ण पदार्थों को, उनके अनन्त गुणों को और उनकी अनंतानंत पर्यायों को एक समय में एक साथ जानने की सामर्थ्य इसमें है।

इसप्रकार आरंभिक शक्तियों में अपने आत्मा का ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त आत्मा के प्रदेशों की स्थिति के संदर्भ में अनेक शक्तियों का विवेचन किया गया है। इसके बाद धर्म-शक्तियों के विवेचन में परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्मयुगलों की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है।

अब इन भाव-अभाव आदि स्वभावरूप शक्तियों द्वारा यह स्पष्ट किया जा रहा है कि इस भगवान आत्मा में प्रतिसमय जो भी परिणमन हो रहा है, उसे करने की पूरी सामर्थ्य उसके स्वभाव में ही विद्यमान है। इसके लिए उसे पर के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है।

यदि किसी को यह आशंका हो कि आत्मा में जिस समय जो पर्याय होनी है, यदि वह उस समय नहीं हुई तो क्या होगा ? उक्त आशंका का यही समाधान है कि भगवान आत्मा में भाव नाम की एक ऐसी शक्ति है, जिसके कारण जो पर्याय जिस समय होनी है, वह पर्याय उस समय होगी ही।

इसीप्रकार यदि यह आशंका हो कि जो पर्याय इस समय नहीं होनी है, यदि वह पर्याय हो गई तो क्या होगा ? इसका समाधान अभावशक्ति में है। अभावशक्ति के कारण जो पर्याय जिस समय नहीं होनी है, वह पर्याय उस समय नियम से नहीं होगी।

भावशक्ति का कार्य है कि विवक्षित पर्याय स्वसमय पर हो ही और अभाव-शक्ति का कार्य है कि अविवक्षित पर्याय उस समय किसी भी स्थिति में न हो।

अब प्रश्न उपस्थित होता है यदि विद्यमान पर्याय का अगले समय में अभाव ही न हो तो फिर नई पर्याय कैसे होगी ? आचार्य कहते हैं कि आत्मा में भावाभाव नाम की एक शक्ति ऐसी भी है कि जिसके कारण विद्यमान पर्याय का अगले समय में नियम से अभाव होगा ही।

इसीप्रकार यदि यह प्रश्न हो कि यदि अगले समय में जो पर्याय आनी थी, यदि वह पर्याय अगले समय नहीं आई तो क्या होगा ? आचार्य कहते हैं कि अभावभाव नाम की एक ऐसी शक्ति है कि जिसके कारण अगले समय में होनेवाली पर्याय अगले समय में गारंटी से होगी ही।

जो पर्याय होनी है, वह न होकर कोई अन्य पर्याय हो जाये और जिस पर्याय का अभाव होना है, उसका अभाव न हो तो क्या होगा ? आत्मा में भावभाव और अभाव-अभाव नाम की ऐसी शक्तियाँ हैं कि जिनके कारण जो पर्याय होनी हो, वही होती है और जो नहीं होनी हो, वह नहीं होती।

इसप्रकार उक्त छह शक्तियों के स्वरूप को सही रूप में समझ लेने से यह आशंका समाप्त हो जाती है कि कोई कार्य समय पर नहीं हुआ तो क्या होगा?

इन शक्तियों के नामों से ही इनका स्वरूप स्पष्ट हो रहा है। भाव शब्द का अर्थ होता है – होना। अत: जिस समय जो पर्याय होनी हो, उस समय उस पर्याय का नियमरूप से होना ही भावशक्ति का कार्य है। इसीप्रकार अभाव शब्द का अर्थ होता है - नहीं होना। अत: जिस समय जिस पर्याय का नहीं होना निश्चित हो; उस पर्याय का उस समय नहीं होना ही अभावशक्ति का कार्य है।

इसीप्रकार भावाभाव अर्थात् भाव का अभाव। जो पर्याय अभी विद्यमान है, उसका अगले समय में निश्चितरूप से अभाव हो जाना ही भाव-अभावशक्ति है और अभावभाव अर्थात् अभाव का भाव होना।

३९-४०. भावशक्ति और क्रियाशक्ति

कारकानुगतक्रियानिष्क्रान्तभवनमात्रमयी भावशक्तिः। कारकानुगतभवत्तारूपभावमयी क्रियाशक्तिः।

जो पर्याय अभी नहीं है और अगले समय में नियम से होनेवाली है; उस अभावरूप पर्याय का भावरूप होना ही अभावभावशक्ति का कार्य है।

भावभाव अर्थात् भाव का भाव और अभाव-अभाव अर्थात् अभाव का अभाव। तात्पर्य यह है कि जो पर्याय होनेवाली है, उसी पर्याय का होना अन्य का नहीं होना भावभावशक्ति का कार्य है और जो पर्याय होनेवाली नहीं है अथवा जिसका अभाव सुनिश्चित है; उस पर्याय का नहीं होना अभाव-अभावशक्ति का कार्य है।।३३-३८।।

उक्त भावादि छह शक्तियों की चर्चा के उपरान्त अब ३९वीं भावशक्ति और ४०वीं क्रियाशक्ति की चर्चा करते हैं –

इन भावशक्ति और क्रियाशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

कारकों के अनुसार होनेवाली क्रिया से रहित भवनमात्रमयी भावशक्ति है और कारकों के अनुसार परिणमित होनेरूप भावमयी क्रियाशक्ति है।

देखो, यह भावशक्ति कारकों के अनुसार होनेवाली क्रिया से रहित मात्र होनेरूप है और क्रियाशक्ति कारकों के अनुसार परिणमित होने रूप है।

भावशक्ति यह बताती है कि आत्मा रागादि विकारी भावों के षट्कारकों से रहित है और क्रियाशक्ति यह बतलाती है कि सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों के षट्कारकों से सहित है।

३३वीं शक्ति का नाम भी भावशक्ति है और इस ३९वीं शक्ति का नाम भी भावशक्ति ही है; नाम एक-सा होने पर भी **दोनों में मूलभूत अन्तर यह है कि ३३वीं भावशक्ति में यह कहा था कि प्रत्येक द्रव्य**

अपनी सुनिश्चित वर्तमान पर्याय से युक्त होता ही है और इस ३९वीं भावशक्ति में यह बताया जा रहा है कि यह भगवान आत्मा कारकों की क्रिया से निरपेक्ष है।

भावादि छह शक्तियों के विवेचन से यह स्पष्ट हुआ था कि प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय पर की अपेक्षा बिना स्वयं की योग्यता से स्वसमय में प्रगट होती ही है; इसप्रकार वह परकारकों से निरपेक्ष है। और **अब इस ३९वीं भावशक्ति में प्रत्येक समय की प्रत्येक पर्याय को अभिन्न षट्कारकों से भी निरपेक्ष बताया जा रहा है। ध्यान रहे, यह अभिन्न षट्कारकों से निरपेक्षता विकारी पर्याय संबंधी ही ग्रहण करना; क्योंकि सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों से सापेक्षता अगली क्रियाशक्ति में स्पष्ट की जायेगी।**

यद्यपि ३९वीं शक्ति में विकारी-अविकारी पर्याय संबंधी कोई उल्लेख नहीं है; सामान्यरूप से ही अभिन्न षट्कारकों से निरपेक्षता का कथन है; तथापि ४०वीं शक्ति में निर्मलपर्याय संबंधी अभिन्नषट्कारकों की सापेक्षता का कथन होने से यह सहज ही फलित हो जाता है कि ३९वीं शक्ति में विकारी पर्यायों की निरपेक्षता ही समझना चाहिए।

इसप्रकार इन भावादि शक्तियों में पर से निरपेक्षता और विकारी पर्यायों से निरपेक्षता बताकर निर्मल पर्यायों संबंधी षट्कारकों की सापेक्षता का निरूपण है।

इसके बाद षट्कारकों संबंधी कर्मशक्ति, कर्ताशक्ति, करणशक्ति, सम्प्रदानशक्ति, अपादानशक्ति और अधिकरणशक्ति – इन छह शक्तियों का निरूपण होगा और उसके बाद संबंधशक्ति की चर्चा करेंगे। इसप्रकार हम देखते हैं कि भाव-अभावादि छह शक्तियों में पर के साथ कारकता का निषेध और इस भावशक्ति में विकार के साथ कारकता का निषेध करके क्रियाशक्ति में निर्मल परिणमन के साथ कारकता का संबंध स्वीकार कर उसका स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

४१-४२. कर्मशक्ति और कर्तृत्वशक्ति

प्राप्यमाणसिद्धरूपभावमयी कर्मशक्तिः। भवत्तारूपसिद्धरूपभाव-भावकत्वमयी कर्तृत्वशक्तिः।

तात्पर्य यह है कि यह भगवान आत्मा न तो पर का और न रागादि भावों का कर्ता है और न पर और रागादि भावों का कर्म ही है; इसीप्रकार उनका करण भी नहीं है, सम्प्रदान भी नहीं है, अपादान भी नहीं है और अधिकरण भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि इस भगवान आत्मा का पर व रागादि के साथ किसी भी प्रकार का कोई भी संबंध नहीं है।

इसीप्रकार ये परपदार्थ व विकारी भाव भी आत्मा के कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण नहीं हैं और न इनका आत्मा के साथ कोई संबंध ही है।

आत्मोन्मुखी निर्मल परिणमन के साथ आत्मा का उक्त कारकों रूप निर्विकल्प संबंध अवश्य है॥३९-४०॥

उक्त भावशक्ति और क्रियाशक्ति के प्रकरण में कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण संबंधी कारकों की चर्चा बार-बार आई है; अतः अब आगे उक्त षट्कारकों संबंधी छह शक्तियों की चर्चा की जा रही है और अन्त में इसका कोई संबंधी है भी या नहीं?

यदि है तो कौन है – इस बात का निर्णय करने के लिए संबंधशक्ति की चर्चा करेंगे।

४१वीं कर्मशक्ति और ४२वीं कर्तृत्वशक्ति को आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

कर्मशक्ति प्राप्यमाणसिद्धरूपभावमयी है और कर्तृत्वशक्ति होनेरूप और सिद्धरूप भाव के भावकत्वमयी है।

भगवान आत्मा में जीवत्वादि अनंत शक्तियों में एक कर्म नाम की शक्ति भी है और एक कर्तृत्व नाम की शक्ति भी है। इन शक्तियों के

कारण ही यह भगवान आत्मा अपने सम्यग्दर्शनादि निर्मल परिणामों को प्राप्त करता है और उन्हें करता भी है। कर्मशक्ति के कारण उन्हें प्राप्त करता है और कर्तृत्वशक्ति के कारण उन्हें करता है।

यह भगवान आत्मा न तो पर को प्राप्त करता है और न पर का कर्ता ही है। इसीप्रकार रागादि-विकारी भावों को प्राप्त करे या करे – ऐसी भी कोई शक्ति आत्मा में नहीं है। हाँ, अपने सम्यग्दर्शनादि निर्मल परिणामों को प्राप्त करने और करने की शक्ति इसमें अवश्य है।

निर्मल परिणामों को करने की शक्ति का नाम कर्तृत्वशक्ति है और इन्हें प्राप्त करने की शक्ति का नाम कर्मशक्ति है। तात्पर्य यह है कि अपने निर्मल परिणामों को करने या प्राप्त करने के लिए इस भगवान आत्मा को पर की ओर झाँकने की कोई आवश्यकता नहीं है।

यहाँ कर्म शब्द का प्रयोग न तो ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों के अर्थ में हुआ है और न रागादि भावकर्मों के अर्थ में ही हुआ है तथा कर्म शब्द का अर्थ निर्मल परिणमनरूप कार्य भी नहीं है।

यहाँ कर्म शब्द का प्रयोग आत्मा की अनादि-अनंत शक्तियों में अथवा यहाँ प्रतिपादित ४७ शक्तियों में से एक कर्म नामक शक्ति के अर्थ में है अथवा कर्ता, कर्म, करण आदि कारकों में समागत कर्म के अर्थ में है। इसप्रकार इन दोनों शक्तियों के विवेचन में यह स्पष्ट किया गया है कि इस भगवान आत्मा में एक कर्म नाम की ऐसी शक्ति है कि जिसके कारण यह आत्मा स्वयं के निर्मल परिणामों को प्राप्त करता है और एक कर्तृत्व नाम की शक्ति ऐसी भी है कि जिसके कारण यह आत्मा स्वयं के निर्मल परिणामों को करे अथवा उनका कर्तृत्व धारण करे।

स्वयं ही कर्ता और स्वयं ही कर्म – इसप्रकार कर्ता-कर्म का अनन्यपना है। तात्पर्य यह है कि इस भगवान आत्मा को न तो कुछ करने के लिए अन्यत्र जाना है और न कुछ पाने के लिए पर की ओर झाँकना है। सब कुछ अपने अन्दर ही है।।४१-४२।।

४३. करणशक्ति

भवद्भावभवनसाधकतमत्वमयी करणशक्तिः।

कर्मशक्ति और कर्तृत्वशक्ति के निरूपण के उपरान्त अब करणशक्ति की चर्चा करते हैं –

कर्मशक्ति और कर्तृत्वशक्ति के निरूपण के उपरान्त अब करणशक्ति की चर्चा करते हैं।

४३वीं करणशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है – **करणशक्ति प्रवर्तमान भाव के होने में साधकतममयी है।**

इस भगवान आत्मा में कर्मशक्ति और कर्तृत्वशक्ति के समान एक करण नामक शक्ति भी है; जिसके कारण यह भगवान आत्मा सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों को प्रगट करता है, कर सकता है।

कर्तृत्वशक्ति के कारण आत्मा अपने निर्मल भावों का कर्ता है, कर्मशक्ति के कारण निर्मल परिणामों को प्राप्त करता है और करणशक्ति के कारण वह निर्मल परिणामों का स्वयं कारण भी है। कर्ता भी स्वयं, कर्म भी स्वयं और करण भी स्वयं – इसप्रकार निर्मल पर्यायों के प्रगट करने में वह पूर्णतः स्वाधीन है।

सम्यग्दर्शनादि निर्मल भावों के लिए उसे अन्य की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि निर्मल पर्यायों को प्रगट करने की पूर्ण सामर्थ्य इन कारक संबंधी छह शक्तियों के माध्यम से उसमें ही विद्यमान है। आत्मा की अनंत स्वतंत्रता की घोषक ये शक्तियाँ आत्मा की अपनी निधियाँ हैं।

उक्त विश्लेषण का तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धदशा तक की समस्त निर्मल पर्यायों को प्राप्त करने का साधन इस शक्ति के माध्यम से यह आत्मा स्वयं ही है; न तो परपदार्थरूप निमित्त साधन हैं और न शुभरागरूप नैमित्तिक भाव ही साधन हैं। **अतः आत्मा की**

४४-४५. सम्प्रदानशक्ति और अपादानशक्ति

स्वयं दीयमानभावोपेयत्वमयी सम्प्रदानशक्तिः। उत्पादव्यया-लिंगितभावापायनिरपायध्रुवत्वमयी अपादानशक्तिः।

साधना के लिए, अनंत अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करने के लिए न तो दीनता से पर की ओर देखने की आवश्यकता है और न शुभभावों में धर्म मानकर उनमें उपादेयबुद्धि रखकर उन्हें करने की आवश्यकता है।

तात्पर्य यह है कि यह भगवान आत्मा न तो पर का कर्ता है, न कर्म और न करण (साधन) ही है तथा परपदार्थ भी इस भगवान आत्मा के कर्ता, कर्म और करण नहीं हैं। इसप्रकार न तो इसके माथे पर पर के कर्तृत्व का भार ही है और न पर से कुछ अपेक्षा ही है।

इसप्रकार करणशक्ति की चर्चा करने के उपरान्त अब सम्प्रदानशक्ति और अपादानशक्ति की चर्चा करते हैं॥४३॥

इस ४४वीं सम्प्रदानशक्ति और ४५वीं अपादानशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

सम्प्रदानशक्ति अपने द्वारा दिये जानेवाले भाव की उपेयत्वमयी है। अपादानशक्ति उत्पाद-व्यय से आलिंगित भाव के नाश होने से हानि को प्राप्त न होनेवाली ध्रुवत्वमयी है।

यहाँ कारक संबंधी छह शक्तियों की चर्चा चल रही है। सामान्यत: छह कारकों का स्वरूप इसप्रकार है – **जो कार्य को करता है, वह कर्ता नामक कारक है और जो कार्य है, वह कर्मकारक है। जिसके द्वारा कार्य हो, वह साधन करण कारक कहा जाता है। कार्य का लाभ जिसे प्राप्त हो, वह सम्प्रदान कारक है और कार्य जिसमें से उत्पन्न हो, वह अपादान कारक कहा जाता है तथा कार्य के आधार को अधिकरण कारक कहते हैं।**

यह तो सर्वविदित ही है कि इन शक्तियों के प्रकरण में निर्मलपर्यायरूप क्रिया को शामिल किया जाता है। अत: अब प्रश्न यह है कि

सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों का कर्ता कौन है, कर्म कौन है, उन्हें प्राप्त करने का साधन क्या है, वे निर्मल पर्यायें प्राप्त किसको होंगी, वे कहाँ से आयेंगी और उनका आधार कौन है ?

कर्ताशक्ति में यह बताया गया है कि उनका कर्ता यह भगवान आत्मा स्वयं है; क्योंकि इसमें एक कर्ता नाम का गुण (शक्ति) है; जिसके कारण यह आत्मा स्वयं ही उक्त निर्मलपर्यायोंरूप परिणमित होता है। कर्मशक्ति में यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा का निर्मल परिणाम ही आत्मा का कर्म है।

करणशक्ति में यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा को सम्यग्दर्शन आदि निर्मल पर्यायों की प्राप्ति के लिए अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं है; क्योंकि आत्मा में एक करण नामक गुण (शक्ति) है, जिसके द्वारा आत्मा इन्हें प्राप्त करता है, कर सकता है।

अब सम्प्रदानशक्ति और अपादानशक्ति में यह बताया जा रहा है कि उक्त निर्मल पर्यायें आत्मा के लिए हैं, आत्मा को प्राप्त होती हैं और आत्मा में से प्रगट होती हैं। अपादानशक्ति के कारण आत्मा में से ही प्रगट होती हैं और सम्प्रदानशक्ति के कारण आत्मा के लिए ही हैं।

सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें आत्मा के लिए आत्मा में से प्रगट होकर स्वयं आत्मा को ही प्राप्त होती हैं – ऐसी अद्भुत वस्तुस्थिति है।

उक्त दोनों शक्तियों के स्पष्टीकरण में यह बताया गया है कि आत्मा का ज्ञान, आनन्द आत्मा में से ही आता है और आत्मा को ही दिया जाता है। दातार भी आत्मा और दान को ग्रहण करनेवाला भी आत्मा। ज्ञान और आनन्द न तो पर में से आते हैं और न पर को दिये ही जाते हैं। इसीप्रकार यह आत्मा न तो इन ज्ञान और आनन्द को पर से ग्रहण करता है और न ही पर को दे ही सकता है। जो कुछ भी इसका लेना-देना होता है, वह सब अपने अन्दर ही होता है, अन्तर में ही होता है। **इन ज्ञान और आनन्द का पर से कुछ भी लेना-देना नहीं है। इन दोनों**

४६. अधिकरणशक्ति

भाव्यमानभावाधारत्वमयी अधिकरणशक्तिः।

शक्तियों के कारण यह भगवान आत्मा अनन्तकाल तक स्वयं ही स्वयं को आनंद देता रहेगा और स्वयं ही आनंद लेता भी रहेगा। यह लेन देन कभी समाप्त नहीं होनेवाली अद्भुत क्रिया है, प्रक्रिया है ।।४४-४५।।

इसप्रकार इन सम्प्रदान और अपादान शक्तियों की चर्चा के उपरान्त अब अधिकरणशक्ति का निरूपण करते हैं–

इस ४६वीं अधिकरणशक्ति की चर्चा आत्मख्याति में इसप्रकार की गई है – **अधिकरणशक्ति आत्मा में भाव्यमानभाव के आधारपनेरूप है।**

इस अधिकरणशक्ति के कारण भगवान आत्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म का आधार है।

निज भगवान आत्मा के आधार से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मलभावों की प्राप्ति होती है और ये भाव आत्मा के आधार से ही टिकते हैं।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति और वृद्धि मोक्षमार्ग है और इन्हीं की पूर्णता मोक्ष है। अधिकरणशक्ति के कारण मोक्ष और मोक्षमार्ग की पर्यायें बिना किसी परपदार्थ और बिना किसी शुभभाव के आधार से आत्मा के आश्रय से आत्मा में सहज ही प्रगट होती हैं।

तात्पर्य यह है कि अनंत सुख-शान्ति प्रदान करनेवाला रत्नत्रयधर्म न तो उपवासादि क्रियाकाण्ड से प्राप्त होता है और न उत्कृष्ट से उत्कृष्ट शुभभाव से प्राप्त होता है; किन्तु अपने अनंत शक्तियों के संग्रहालय भगवान आत्मा के आश्रय से होता है; आत्मा के ज्ञान से होता है, श्रद्धान से होता है, ध्यान से होता है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि यह भगवान आत्मा स्वयं के आधार पर प्रतिष्ठित है; इसे अन्य आकाशादि पदार्थों के आधार की

४७. सम्बन्धशक्ति

स्वभावमात्रस्वस्वामित्वमयी संबंधशक्तिः।

आवश्यकता नहीं है। न केवल आत्मद्रव्य स्वयं के आधार पर है; अपितु उसका स्वाभाविक परिणमन, निर्मल परिणमन भी पूर्णतः स्वयं के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र संबंधी निर्मल परिणमन का भी एकमात्र आत्मा ही आधार है; क्योंकि उसमें अधिकरण नामक एक ऐसी शक्ति है कि जिसके कारण यह सब कुछ सहज ही होता है, स्वाधीनपने ही होता है।

प्रश्न : शास्त्रों में तो छहों द्रव्यों का आधार आकाश को कहा है और आत्मा भी एक द्रव्य है; अतः उसका आधार भी आकाश ही होना चाहिए?

उत्तर : आकाश को सभी द्रव्यों का आधार का कथन निमित्त की अपेक्षा से किया गया कथन है; अतः असद्भूतव्यवहारनय का उपचरित कथन है। यहाँ निश्चयनय की अपेक्षा परमसत्य का प्रतिपादन है; उपादान की अपेक्षा प्रतिपादन है।

व्यवहार से भिन्न षट्कारक की भी चर्चा आती है; पर वह सभी कथन असद्भूत होता है, उपचरित होता है, असत्यार्थ होता है।

यहाँ अभिन्नषट्कारक की चर्चा चल रही है। अतः परमसत्य यही है कि आत्मा अपनी अधिकरणशक्ति के कारण स्वयं प्रतिष्ठित है, उसके परिणमन में भी स्वयं का ही आधार है॥४६॥

इसप्रकार अधिकरणशक्ति का निरूपण करने के उपरान्त अब संबंधशक्ति की चर्चा करते हैं।

४७वीं सम्बन्धशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है – **अपना स्वभाव ही अपना स्वामी है – ऐसी स्व-स्वामित्वमयी संबंध-शक्ति है।**

अध्यात्म में कारक छह होते हैं और व्याकरण के अनुसार विभक्तियाँ सात होती हैं। इनमें संबोधन को जोड़कर लोक में आठ विभक्तियों या आठ कारकों की भी चर्चा होती है।

जो क्रिया के प्रति उत्तरदायी हो, जिसका क्रिया के साथ सीधा संबंध हो, उसे कारक कहते हैं। संबोधन का क्रिया के साथ कोई संबंध नहीं है; इसकारण उसे न तो कारकों में और न विभक्तियों में ही गिना जा सकता है।

संबंध का भी कोई सीधा संबंध क्रिया से नहीं होता और न वह क्रिया के प्रति उत्तरदायी ही है; अत: संबंध को भी कारक नहीं कहा जा सकता; फिर भी विभक्तियों में तो उसे शामिल किया ही गया है। अत: यहाँ भी शक्तियों के रूप में संबंध की चर्चा है।

इतना विशेष है कि षट्कारकों संबंधी शक्तियों में तो कर्ता-कर्म संबंधी चर्चा है और इस संबंधशक्ति में स्व-स्वामी संबंध की बात कही गई है।

इस संबंधशक्ति में यह बताया गया है कि इस भगवान आत्मा का स्वामी कोई अन्य नहीं, यह स्वयं ही है। यही स्व और यही स्वामी – ऐसा ही अनन्य स्व-स्वामी संबंध है। यह भी स्पष्ट ही है कि न तो इसका कोई अन्य पदार्थ स्वामी है और न यह भी किसी अन्य पदार्थ का स्वामी है।

स्वयं की निर्मल पर्याय आत्मा की सम्पत्ति है और यह भगवान आत्मा ही इसका स्वामी है।

इसप्रकार यह शक्ति आत्मा के एकत्व-विभक्त स्वरूप को बतलाती है। इस संबंधशक्ति के माध्यम से भगवान आत्मा का पर के साथ किसी भी प्रकार का कोई संबंध नहीं है – यह निश्चित हो जाता है।

इसप्रकार इस संबंधशक्ति में यह बताया गया है कि अनंत शक्तियों

में एक संबंध नाम की शक्ति भी है कि जिसके कारण यह आत्मा किसी भी परपदार्थ का न तो स्वामी है और न ही कोई पर पदार्थ ही भगवान आत्मा का स्वामी है। तात्पर्य यह है कि न तो इसके माथे पर के स्वामित्व का भार है और न अन्य की पराधीनता ही है।

प्रश्न : संबंध तो भिन्न-भिन्न द्रव्यों के बीच होता है। अत: मैं ही स्व और मैं ही स्वामी – यह कैसे हो सकता है ? जब दोनों स्वयं ही हैं तो फिर इसे संबंध कहने से क्या साध्य है ?

उत्तर : अरे भाई ! यह संबंधशक्ति यह स्पष्ट करने के लिए कही गई है कि आत्मा का पर के साथ कोई संबंध नहीं है। यह आत्मा पर से संबंधित न हो, अपने में ही सीमित रहे – यही कार्य है इस संबंधशक्ति का। मैं ही स्व और मैं ही स्वामी' – यह भी कथनमात्र ही है; क्योंकि मैं तो मैं ही हूँ, उसमें सम्पत्ति और स्वामी का विकल्प भी कथनमात्र है।

यह संबंधशक्ति पर के साथ संबंध बताने के लिए नहीं कही गई; अपितु पर के साथ सभी प्रकार के सभी संबंधों के निषेध के लिए कही गई है। पर से संबंध के निषेध पर बल देने के लिए स्वयं में ही स्व-स्वामी संबंध बताया गया है।

यहाँ यह समझना चाहिए कि मैं ही स्वामी और मैं ही स्व (सम्पत्ति) – इसका आशय यही है कि यहाँ स्व-स्वामी संबंध की कोई गुंजाइश नहीं है। इसी बात पर बल देने के लिए कि मेरा कोई स्वामी नहीं है, मैं किसी की सम्पत्ति नहीं हूँ और मैं भी किसी का स्वामी नहीं हूँ और कोई मेरी सम्पत्ति नहीं है; इसलिए यह कहा गया है कि मैं ही स्वामी और मैं ही स्व (सम्पत्ति)।

यह न केवल संबंधशक्ति के बारे में समझना; अपितु सभी कारकों संबंधी शक्तियों के बारे में समझना चाहिए; क्योंकि मैं ही कर्ता, मैं ही कर्म, मैं ही करण, मैं ही संप्रदान, मैं ही अपादान और मैं ही अधिकरण

– इसका भी यही अर्थ हो सकता है कि मेरा कर्ता कोई अन्य नहीं, मेर कर्म भी अन्य कोई नहीं। इसीप्रकार करणादि कारकों पर भी घटित क लेना चाहिए॥४७॥

अन्त में यही निष्कर्ष रहा कि मैं तो मैं ही हूँ, षट्कारक कं प्रक्रिया से पार स्वयं में परिपूर्ण स्वतंत्र पदार्थ। यही कारण है कि इन शक्तियों के आत्मा में विद्यमान होने पर भी इनके लक्ष्य से निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती; अपितु इन शक्तियों के संग्रहालय अभेद-अखण्ड त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के आश्रय से ही सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों का आरंभ होता है।

इसप्रकार संबंधशक्ति की चर्चा के साथ-साथ ४७ शक्तियों की चर्चा भी समाप्त होती है।

उक्त ४७ शक्तियों की चर्चा में दृष्टि के विषय भूत अनंत शक्तियों के संग्रहालय भगवान आत्मा का स्वरूप तो स्पष्ट हुआ ही है; साथ में उछलती हुई शक्तियों की बात कहकर; शक्तियों के उछलने की चर्चा करके, निर्मलपर्यायरूप से परिणमित होने की बात करके द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्य की चर्चा के साथ-साथ पर्यायार्थिकनय के विषयभूत निर्मल परिणमन को भी स्वयं में समेट लिया है।

●●●

प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में समागत

४७ नय

मंगलाचरण

(दोहा)

अनंत धर्ममय आत्म के प्रतिपादक नय नंत।
कहना संभव हैं नहीं सैंतालीस कहंत॥

पृष्ठभूमि

आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका टीका में ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार, ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार और चरणानुयोगसूचक चूलिका के रूप में विभाजित आचार्य कुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार परमागम यद्यपि यहाँ समाप्त हो जाता है; तथापि आचार्य अमृतचन्द्र परिशिष्ट के रूप में एक अधिकार और लिखते हैं, जिसमें मुख्यरूप से ४७ नयों की चर्चा है।

यह भगवान आत्मा के धर्मों का विश्लेषण है। समयसार में भगवान आत्मा में उछलती हुई अनन्त शक्तियों का विवेचन किया गया है और प्रवचनसार में आत्मा में सदा विद्यमान अनन्त धर्मों का विवेचन है।

न तो अनन्त शक्तियों का ही विश्लेषण संभव है और न अनन्त धर्मों का ही; अत: समयसार में नमूने के रूप में ४७ शक्तियों का वर्णन है और प्रवचनसार में ४७ धर्मों का, नयों का।

समयसार श्रद्धाप्रधान ग्रन्थ है; अत: उसमें श्रद्धेय शक्तियों का वर्णन है और प्रवचनसार ज्ञानप्रधान ग्रन्थ है; अत: इसमें ज्ञेयरूप धर्मों एवं उन्हें जाननेवाले नयों का प्रतिपादन है।

इन ४७ नयों के माध्यम से जो आत्मार्थी, भगवान आत्मा के ४७ धर्मों को जानकर तथा समयसार की 'आत्मख्याति' टीका में प्रतिपादित

ननु कोऽयमात्मा कथं चावाप्यत इति चेत्, अभिहितमेतत् पुनरप्यभिधीयते। आत्मा हि तावच्चैतन्यसामान्यव्याप्तानन्तधर्माधिष्ठात्रेकं द्रव्यमनन्तधर्मव्यापकानन्तनयव्याप्येकश्रुतज्ञानलक्षणप्रमाणपूर्वकस्वानुभवप्रमीयमाणत्वात्।

भगवान आत्मा की ४७ शक्तियों को पहिचान कर अनन्तशक्तियों से सम्पन्न, अनन्तधर्मों के अधिष्ठाता भगवान आत्मा में अपनत्व स्थापित करता है, उसे ही अपना जानता-मानता है; उसी में जम जाता है, रम जाता है, उसी में तल्लीन हो जाता है; वह चार घातिया कर्मों की ४७ प्रकृतियों का नाशकर अनन्तचतुष्टयरूप अरहंत दशा को प्राप्त करता है; अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य एवं अनन्त-अतीन्द्रिय-आनन्दरूप परिणमित हो जाता है। जो अनन्तसुखी होना चाहते हैं, वे अनन्तधर्मों के अधिष्ठाता निज भगवान आत्मा की आराधना अवश्य करें।

परिशिष्ट का आरंभ आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार करते हैं –

"'यह आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त किया जाता है' - यदि ऐसा प्रश्न किया जाय तो इसका उत्तर पहले ही कहा जा चुका है और अब पुनः कहते हैं। प्रथम तो आत्मा वास्तव में चैतन्यसामान्य से व्याप्त अनन्तधर्मों का अधिष्ठाता एक द्रव्य है; क्योंकि वह अनन्तधर्मों में व्याप्त होनेवाले जो अनन्त नय हैं, उनमें व्याप्त होनेवाला जो एक श्रुतज्ञान-स्वरूप प्रमाण है, उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से प्रमेय होता है।"

जिन ४७ नयों से यहाँ आत्मा का वर्णन किया गया है, वे ४७ नय इसप्रकार हैं – (१) द्रव्यनय, (२) पर्यायनय, (३) अस्तित्वनय, (४) नास्तित्वनय, (५) अस्तित्वनास्तित्वनय, (६) अवक्तव्यनय, (७) अस्तित्व-अवक्तव्यनय, (८) नास्तित्व-अवक्तव्यनय, (९) अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्यनय, (१०) विकल्पनय, (११) अविकल्पनय, (१२) नामनय, (१३) स्थापनानय, (१४) द्रव्यनय, (१५) भावनय, (१६) सामान्यनय, (१७) विशेषनय, (१८) नित्यनय, (१९)

अनित्यनय, (२०) सर्वगतनय, (२१) असर्वगतनय, (२२) शून्यनय, (२३) अशून्यनय, (२४) ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय, (२५) ज्ञानज्ञेय-द्वैतनय, (२६) नियतिनय, (२७) अनियतिनय, (२८) स्वभावनय, (२९) अस्वभावनय, (३०) कालनय, (३१) अकालनय, (३२) पुरुषकारनय, (३३) दैवनय, (३४) ईश्वरनय, (३५) अनीश्वरनय, (३६) गुणीनय, (३७) अगुणीनय, (३८) कर्तृनय, (३९) अकर्तृनय, (४०) भोक्तृनय, (४१) अभोक्तृनय, (४२) क्रियानय, (४३) ज्ञाननय, (४४) व्यवहारनय, (४५) निश्चयनय, (४६) अशुद्धनय, (४७) शुद्धनय।

४७ नयों की उक्त नामावली पर गहराई से दृष्टि डालने पर एक बात स्पष्ट होती है कि सप्तभंगी संबंधी एवं चारनिक्षेप संबंधी नयों को छोड़कर शेष सभी ३६ नय परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्मों को विषय बनाने वाले होने से १८ जोड़ों के रूप में दिये गये हैं। जैसे :-नित्यनय-अनित्यनय, सर्वगतनय-असर्वगतनय, कालनय-अकालनय आदि।

इस जगत में विद्यमान प्रत्येक वस्तु अनेकान्तस्वरूप है, अनन्तगुणों का अखण्ड पिण्ड है। अनन्तगुणों के समान, परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले नित्य-अनित्यादि अनंत धर्मयुगल भी प्रत्येक वस्तु में पाये जाते हैं। अनन्तगुणों का अखण्ड पिण्ड भगवान आत्मा भी एक द्रव्य है, एक वस्तु है; अतः उसमें भी परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्मयुगल पाये जाते हैं।

भगवान आत्मा में विद्यमान अनंतधर्मों में से एक-एक धर्म को विषय बनानेवाले सम्यक् श्रुतज्ञान के अंशरूप नय भी अनन्त होते हैं, हो सकते हैं। उन अनन्तनयों के समुदायरूप सम्यक्श्रुतज्ञान प्रमाण है और अनन्तधर्मात्मक भगवान आत्मा प्रमेय है।

निज भगवान आत्मा का गहराई से परिचय प्राप्त करने के लिए सम्यक्श्रुतज्ञान के अंशरूप ४७ नयों द्वारा यहाँ भगवान आत्मा के ४७

(१-२) द्रव्यनय और पर्यायनय

तत्तु द्रव्यनयेन पटमात्रवच्चिन्मात्रम्।।१।। पर्यायनयेन तन्तुमात्रवद्दर्शनज्ञानादिमात्रम्।।२।।

धर्मों का प्रतिपादन किया जा रहा है; क्योंकि न तो भगवान आत्मा के अनंतधर्मों का प्रतिपादन ही संभव है और न उन्हें जाननेवाले अनन्तनयों को भी वाणी द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

इन ४७ नयों द्वारा भगवान आत्मा के ४७ धर्मों के सम्यक्परिज्ञान से भगवान आत्मा के शेष अनंतधर्मों का भी अनुमान किया जा सकता है और सम्यक्श्रुतज्ञान के अंशरूप अनंत नयों का भी अनुमान लगाया जा सकता है, सबसे बड़ी बात तो यह है कि सम्यक्श्रुतज्ञान द्वारा अनन्त धर्मात्मक एक धर्मी आत्मा का अनुभव भी किया जा सकता है।

इसी भावना से आचार्य अमृतचन्द्र ने इन ४७ नयों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया है; जो इसप्रकार है –

"वह अनन्तधर्मात्मक आत्मद्रव्य द्रव्यनय से पटमात्र की भाँति चिन्मात्र है और पर्यायनय से तन्तुमात्र की भाँति दर्शन-ज्ञानादिमात्र है।।१-२।।"

यद्यपि वस्त्र में अनेक ताने-बाने होते हैं, विविध आकार-प्रकार होते हैं, विविध रंग-रूप भी होते हैं, तथापि सब-कुछ मिलाकर वह वस्त्र वस्त्रमात्र ही है। ताने-बाने आदि भेद-प्रभेदों में न जाकर उसे मात्र वस्त्र के रूप में ही देखना-जानना द्रव्यनय है; अथवा द्रव्यनय से वह वस्त्रमात्र ही है। ठीक इसीप्रकार **चेतनास्वरूप भगवान आत्मा में ज्ञान-दर्शनरूप गुणपर्यायें भी हैं, तथापि गुणपर्यायरूप भेदों को दृष्टि में न लेकर भगवान आत्मा को एक चैतन्यमात्र जानना द्रव्यनय है; अथवा द्रव्यनय से भगवान आत्मा चिन्मात्र है।**

यद्यपि वस्त्र वस्त्रमात्र ही है, तथापि उसमें ताने-बाने, आकार-प्रकार एवं रंग-रूप आदि भी तो हैं ही। वस्त्र को वस्त्रमात्र न देखकर उसमें विद्यमान ताने-बाने आदि पर दृष्टि डालकर देखने पर वह ताने-

बानेवाला, लाल-पीला एवं छोटा-बड़ा भी तो दिखाई देता है। उसीप्रकार यद्यपि द्रव्यनय से भगवान आत्मा चिन्मात्र ही है, तथापि उसमें जानने-देखनेरूप परिणमन भी तो पाया जाता है। **भगवान आत्मा को चिन्मात्र न देखकर, उसमें विद्यमान ज्ञान-दर्शनादिरूप परिणमन को देखकर उसे ज्ञान-दर्शनादिवाला, जानने-देखनेवाला जानना पर्यायनय है; अथवा पर्यायनय से भगवान आत्मा ज्ञान-दर्शनादि मात्र है।**

इसप्रकार यह निश्चित हुआ कि **द्रव्यनय से भगवान आत्मा पटमात्र की भाँति चिन्मात्र है और पर्यायनय से तन्तुमात्र की भाँति दर्शन-ज्ञानादि मात्र है।**

नय जाननेरूप भी होते हैं और कहनेरूप भी। **'ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं'** - इस परिभाषा के अनुसार नय ज्ञानरूप अथवा जाननेरूप होते हैं तथा **'वक्ता के अभिप्राय को नय कहते हैं'** - इस परिभाषा के अनुसार नय कथनरूप होते हैं।

कथनरूप नयों के अनुसार कथन करने पर इसप्रकार भी कह सकते हैं कि **द्रव्यनय से भगवान आत्मा पटमात्र की भाँति चिन्मात्र कहा जाता है और पर्यायनय से उसी भगवान आत्मा को तन्तुवाला की भाँति ज्ञान-दर्शनवाला भी कहा जाता है।**

तात्पर्य यह है कि आत्मा को पटमात्र की भाँति चिन्मात्र कहना द्रव्यनय है और तन्तुमात्र की भाँति दर्शन-ज्ञान मात्र कहना पर्यायनय है।

भगवान आत्मा अनन्तधर्मों का अखण्ड पिण्ड है। अनन्तधर्मात्मक यह भगवान आत्मा अनन्तनयात्मक श्रुतज्ञानरूप प्रमाण का विषय है। **इस अनन्तधर्मात्मक भगवान आत्मा में चैतन्यसामान्य है स्वरूप जिसका, ऐसा एक 'द्रव्य' नामक धर्म भी है। इस द्रव्य नामक धर्म को विषय बनाने वाले नय का नाम ही द्रव्यनय है। इसीप्रकार इस भगवान आत्मा में ज्ञान-दर्शनादिरूप परिणमित होना है स्वभाव जिसका, ऐसा एक 'पर्याय' नामक धर्म भी है। इस पर्याय नामक धर्म को विषय बनानेवाले नय का नाम पर्यायनय है।**

सप्तभंगी संबंधी सात नय

(३-५) अस्तित्व, नास्तित्व और अस्तित्व-नास्तित्व

अस्तित्वनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थलक्ष्योन्मुखविशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्तित्ववत् ॥३॥ नास्तित्वनयेनानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत्परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्नास्तित्ववत् ॥४॥ अस्तित्वनास्तित्वनयेनायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् क्रमतः स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्तित्वनास्तित्ववत् ॥५॥

मूलनयों की चर्चा में जिन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयों की चर्चा की गई थी, उन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयों से ये द्रव्यनय और पर्यायनय भिन्न हैं।

वहाँ तो सम्पूर्ण वस्तु को द्रव्य और पर्याय - इन दो अंशों में विभाजित कर बात कही गई थी, वस्तु के द्रव्यांश को ग्रहण करनेवाले नय को द्रव्यार्थिकनय और पर्यायांश को ग्रहण करनेवाले नय को पर्यायार्थिकनय कहा गया था; पर यहाँ तो वस्तु के अनन्तधर्मों में से एक 'द्रव्य' नामक धर्म को ग्रहण करनेवाले नय को द्रव्यनय और 'पर्याय' नामक धर्म को ग्रहण करनेवाले नय को पर्यायनय कहा गया है ॥१-२॥

द्रव्यनय और पर्यायनय के बाद अस्तित्व-नास्तित्व संबंधी सप्तभंगी के आधार पर सात नय लिये गये हैं, जिनमें से आदि के तीन नय इसप्रकार हैं–

"वह आत्मद्रव्य अस्तित्वनय से लोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित, संधानदशा में रहे हुए, लक्ष्योन्मुख बाण की भाँति स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा अस्तित्ववाला है; नास्तित्वनय से अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधान दशा में न रहे हुए, अलक्ष्योन्मुख उसी बाण की भाँति परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की

अपेक्षा नास्तित्ववाला है एवं अस्तित्वनास्तित्वनय से लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधान-अवस्था में रहे हुए और संधान-अवस्था में नहीं रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख उसी बाण की भाँति क्रमशः स्व-पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा अस्तित्वनास्तित्व वाला है॥३-५॥"

भगवान आत्मा में विद्यमान अनन्तधर्मों में एक अस्तित्व नामक धर्म भी है, जो भगवान आत्मा के अस्तित्व को टिकाए रखता है। अस्तित्व नामक धर्म के कारण ही भगवान आत्मा सत्तास्वरूप है।

यह अस्तित्व नामक धर्म अकेले भगवान आत्मा में ही नहीं, सभी पदार्थों में है। सभी पदार्थों में अपना-अपना अस्तित्वधर्म है और वे सभी पदार्थ अपने-अपने अस्तित्व धर्म से ही टिके हुए हैं। किसी भी पदार्थ को अपने अस्तित्व को टिकाये रखने के लिए किसी अन्य के सहारे की आवश्यकता नहीं है।

यद्यपि यह बात पूर्णतः सत्य है कि सभी पदार्थों में अपना-अपना अस्तित्वधर्म है; तथापि यहाँ आत्मा के अस्तित्व की बात चल रही है। यहाँ डोरी और धनुष के मध्य स्थित, संधानदशा में रहे हुए, लक्ष्योन्मुख, लोहमय बाण का उदाहरण देकर भगवान आत्मा के अस्तित्वधर्म को समझाया गया है।

जिसप्रकार कोई बाण स्वद्रव्य की अपेक्षा से लोहमय है, स्वक्षेत्र की अपेक्षा से डोरी और धनुष के मध्य स्थित है, स्वकाल की अपेक्षा से संधानदशा में है अर्थात् धनुष पर चढ़ाकर खैंची हुई दशा में है और स्वभाव की अपेक्षा से लक्ष्योन्मुख है अर्थात् निशान की ओर है। इसप्रकार जैसे बाण स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से अस्तित्व वाला है, उसीप्रकार भगवान आत्मा अस्तित्वनय से अर्थात् स्वचतुष्टय की अपेक्षा से अस्तित्ववाला है।

स्वयं के सम्पूर्ण गुण-पर्यायों के पिण्ड को स्वद्रव्य कहते हैं, स्वयं के असंख्य आत्मप्रदेशों को स्वक्षेत्र कहते हैं, स्वयं की वर्तमान समय की अवस्था को स्वकाल कहते हैं एवं प्रत्येक गुण की तत्समय की पर्याय की ओर झुके हुए त्रिकाली शक्तिरूप-गुणरूप भाव को स्वभाव कहते हैं। द्रव्य=द्रव्यगुणपर्यायरूप वस्तु, क्षेत्र=प्रदेश, काल=पर्याय एवं भाव=गुण, धर्म, स्वभाव, शक्तियाँ।

जिसप्रकार लोहमयपना तीर का स्वद्रव्य है; उसीप्रकार गुणपर्यायमयपना भगवान आत्मा का स्वद्रव्य है। जिसप्रकार डोरी और धनुष के बीच में रहा हुआ तीर का आकार ही तीर का स्वक्षेत्र है; उसीप्रकार अपने जिन असंख्यात प्रदेशों में भगवान आत्मा रहता है, वे असंख्यात प्रदेश ही उसका स्वक्षेत्र हैं। जिसप्रकार लक्ष्य के सन्मुख संधानीकृत अवस्था ही तीर का स्वकाल है; उसीप्रकार वर्तमान जिस अवस्था में आत्मा विद्यमान है, वह अवस्था ही आत्मा का स्वकाल है। जिसतरह निशान के सन्मुख रहनेरूप जो तीर का भाव है, वही उसका स्वभाव है; उसीप्रकार समय-समय की पर्यायरूप से परिणमित होने की शक्तिरूप जो भाव है, वही भाव भगवान आत्मा का स्वभाव है।

इसप्रकार भगवान आत्मा अपने गुण-पर्यायों के पिण्डरूप स्वद्रव्य से, अपने असंख्यात प्रदेशी स्वक्षेत्र से, वर्तमान वर्तती पर्यायरूप स्वकाल से एवं शक्तिरूप स्वभाव से अस्तित्वधर्मवाला है। अस्तित्वधर्म में स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव - ये चार बातें समाहित हैं। प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व इन चार बातों में ही समाहित है।

वस्तु के अस्तित्व की यह एक सहज प्रक्रिया ही है। कौन, कहाँ, कब और क्यों - इन प्रश्नों के उत्तर बिना किसी व्यक्ति का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता। वस्तु के अस्तित्व की सिद्धि के लिए प्रत्येक वस्तु के संबंध में इन चार प्रश्नों के उत्तर आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हैं। कौन=द्रव्य, कहाँ=क्षेत्र, कब=काल, क्यों=भाव।

मैं आपसे कहूँ कि वह आपसे मिलना चाहता है, तो आपके मस्तिष्क

में उक्त चार प्रश्न एक साथ ही खड़े हो जावेंगे। आप तत्काल ही पूछेंगे कि कौन मिलना चाहता है, कहाँ मिलना चाहता है, कब मिलना चाहता है और क्यों मिलना चाहता है ? इन चार प्रश्नों का उत्तर पाये बिना न तो आप कोई उत्तर ही दे सकते हैं और न आपकी जिज्ञासा ही शान्त हो सकती है; क्योंकि मिलनेरूप क्रिया की सम्पन्नता के लिए इन जिज्ञासाओं का समाधान अपेक्षित ही नहीं, अनिवार्य है। इन प्रश्नों का उत्तर पाये बिना आप 'हाँ' और 'ना' कुछ भी तो न कह सकेंगे। 'हाँ' और 'ना' कहने के लिए इन चारों का जानना अत्यन्त आवश्यक है। क्रमश: प्रत्येक प्रश्न के उत्तर के आधार पर आप मिलने न मिलने का निर्णय करेंगे।

कौन मिलना चाहता है - इस प्रश्न के उत्तर में यदि यह कहा जाय कि बाँझ का बेटा आपसे मिलना चाहता है तो आप मुस्करा कर कहेंगे कि क्यों मजाक करते हो ? बाँझ के बेटे का इस लोक में गुणपर्यायरूप अस्तित्व ही नहीं है तो फिर उससे कैसे मिला जा सकता है ?

यदि यह कहा जाय कि आपसे सीमन्धर भगवान मिलना चाहते हैं तो भी आप कहेंगे कि उनकी गुण-पर्यायमय सत्ता तो है, पर इस क्षेत्र में जब वे हैं ही नहीं तो फिर उनसे मिलना कैसे संभव है ?

कुन्दकुन्दाचार्य तो गुणपर्यायरूप वस्तु हैं एवं भरतक्षेत्र के ही आचार्य हैं, वे आपसे मिलना चाहते हैं - यदि यह कहा जाय तब भी आप यही कहेंगे कि इस समय वे यहाँ कहाँ हैं?

यदि यह कहा जाय कि आपसे राजीव गाँधी मिलना चाहते हैं तो भी आप यही कहेंगे कि आखिर क्यों ? उनको मेरे से क्या अपेक्षा हो सकती है ? वर्तमान में मैं उनके क्या काम आ सकता हूँ ?

जिसप्रकार मिलनेवाले व्यक्ति, मिलने का स्थान, मिलने का समय और मिलने का प्रयोजन स्पष्ट हुए बिना मिलना संभव नहीं होता; उसीप्रकार स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्वचतुष्टय के स्पष्ट हुए बिना

वस्तु का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता, वस्तु का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता। स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्वचतुष्टय ही भगवान आत्मा का अस्तित्व है - इसी बात को नयों की भाषा में इस रूप में कहा जाता है कि अस्तित्वनय से भगवान आत्मा अस्तित्ववाला है। स्वचतुष्टय ही भगवान आत्मा का अस्तित्वधर्म है और आत्मा के उस अस्तित्वधर्म को अथवा अस्तित्वधर्म की मुख्यता से अनन्तधर्मात्मक आत्मा को विषय बनानेवाला नय ही अस्तित्वनय है।

अस्तित्वधर्म के समान ही भगवान आत्मा में एक नास्तित्वधर्म भी है। जिसप्रकार स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से अस्तित्वधर्म है और उसे विषय बनानेवाला अस्तित्वनय है; उसीप्रकार परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से नास्तित्वधर्म है और उसे विषय बनानेवाला नास्तित्वनय है। जिसप्रकार अस्तित्वधर्म भगवान आत्मा के अस्तित्व को कायम रखता है; उसीप्रकार नास्तित्वधर्म उसे पर से भिन्न एवं पर से सम्पूर्णतः असंपृक्त रखता है। अपने अस्तित्व को टिकाए रखनेवाला अस्तित्वधर्म है और पर के हस्तक्षेप को रोकनेवाला नास्तित्वधर्म है। इसप्रकार ये दोनों ही धर्म भगवान आत्मा को अपने से अभिन्न एवं पर से भिन्न रखते हैं।

जिस बाण के उदाहरण से यहाँ अस्तित्वधर्म को समझाया गया है, उसी बाण के उदाहरण से नास्तित्व को भी समझाया गया है।

जिसप्रकार कोई बाण स्वद्रव्य की अपेक्षा से लोहमय है, स्वक्षेत्र की अपेक्षा से डोरी और धनुष के मध्य स्थित है, स्वकाल की अपेक्षा से संधानदशा में है और स्वभाव की अपेक्षा लक्ष्योन्मुख है; परन्तु वही बाण परबाण की अपेक्षा से अलोहमय है, परबाण के क्षेत्र की अपेक्षा से डोरी और धनुष के मध्य अस्थित है, परबाण के काल की अपेक्षा से संधानदशा में नहीं रहा हुआ है एवं परबाण के भाव की अपेक्षा से अलक्ष्योन्मुख भी है। उसीप्रकार यह भगवान आत्मा स्वद्रव्य-क्षेत्र-

काल-भाव की अपेक्षा अस्तित्वमय होने पर भी परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा नास्तित्वमय है।

इस संदर्भ में आप्तमीमांसा में समागत आचार्य समन्तभद्र का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है-

"सदैव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥१५॥

स्वरूपादिचतुष्टय अर्थात् स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से वस्तु के अस्तित्व को कौन बुद्धिमान स्वीकार नहीं करेगा ?

इसीप्रकार पररूपादिचतुष्टय अर्थात् परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा वस्तु के नास्तित्व को भी कौन बुद्धिमान स्वीकार नहीं करेगा?

यदि कोई व्यक्ति इसप्रकार अस्तित्व और नास्तित्वधर्मों को स्वीकार नहीं करता है तो उसके मतानुसार वस्तु की व्यवस्था ही सिद्ध नहीं होगी।"

अस्तित्वधर्म को भावधर्म और नास्तित्वधर्म को अभावधर्म भी कहते हैं। भाव (सद्भाव) के समान अभाव भी वस्तु का एक धर्म है, पर वह अभावधर्म भी अभावरूप न होकर भावान्तररूप है।

तात्पर्य यह है कि नास्तित्वधर्म (अभावधर्म) की सत्ता भी वस्तु में अस्तित्वधर्म (भावधर्म) के समान ही है, नास्तित्वधर्म की भी भगवान आत्मा में अस्ति है। **वह अभावधर्म भावान्तरस्वभावरूप है, गधे के सींग के समान अभावरूप नहीं है। अभाव तो उसका नाम है, क्योंकि उसका कार्य अपने आत्मा में परपदार्थों के अप्रवेशरूप है, अभावरूप है।**

वह नास्तिधर्म स्वयं अभावरूप नहीं है, उसका स्वरूप अपने में पर के अभावरूप है। इस संदर्भ में 'युक्त्यनुशासन' की निम्नांकित कारिका ध्यान देने योग्य है :-

"भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मो, भावांतरं भाववदर्हतस्ते।

हे अरहंत भगवान ! तुम्हारे मत में भाव के समान भावान्तरस्वभावरूप अभाव भी वस्तु का एक धर्म होता है।"

जिनागम में अभाव चार प्रकार के बताये गये हैं, जिनके नाम क्रमशः इसप्रकार हैं :- प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव एवं अत्यन्ताभाव। अभावधर्म की सिद्धि करते हुए आ. समंतभद्र आप्तमीमांसा में लिखते हैं–

"भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात्।
सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ॥९॥
कार्यद्रव्यमनादि स्याद् प्राग्भावस्य निह्नवे।
प्रध्वंसस्य च धर्मस्यप्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥१०॥
सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्याऽपोहव्यतिक्रमे।
अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा ॥११॥

हे भगवन ! पदार्थों का सर्वथा सद्भाव ही मानने पर अभावों का अर्थात् अभावधर्म का अभाव मानना होगा। अभावधर्म की सत्ता स्वीकार नहीं करने पर सभी पदार्थ सर्वात्मक हो जावेंगे, सभी पदार्थ अनादि-अनन्त हो जावेंगे, किसी का कोई पृथक् स्वरूप ही न रहेगा, जो कि आपको स्वीकार नहीं है।

प्रागभाव का अभाव मानने पर सभी कार्य (पर्यायें) अनादि हो जावेंगे। इसीप्रकार प्रध्वंसाभाव नहीं मानने पर सभी कार्य (पर्यायें) अनन्त हो जावेंगे। यदि अन्योन्याभाव को नहीं मानेंगे तो सभी दृश्यमान (पुद्गल) पदार्थ वर्तमान में एकरूप हो जावेंगे और अत्यन्ताभाव के नहीं मानने पर सभी पदार्थों (द्रव्यों) के त्रिकाल एकरूप हो जाने से किसी भी द्रव्य या पर्याय का व्यपदेश (कथन) भी न बन सकेगा।"

इसप्रकार हम देखते हैं कि भाव (अस्तित्व) के समान अभाव (नास्तित्व) भी वस्तु का एक सद्भावरूप धर्म है।

यद्यपि नास्तित्वधर्म को परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा समझाया जाता है; तथापि वह पर का धर्म नहीं, भगवान आत्मा का ही धर्म है; उसकी सत्ता का आधार भी पर नहीं, निज भगवान आत्मा ही

है। यह नास्तित्वधर्म ही स्व और पर के बीच की अभेद्य दीवार है, इसके कारण ही सभी पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता कायम रहती है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता, एक आत्मा दूसरे आत्मारूप नहीं होता, एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता, एक पर्याय दूसरी पर्यायरूप नहीं होती; क्योंकि एक का दूसरे में अभाव है। **यह अभावधर्म ही भेदविज्ञान का मूल है, देह और आत्मा की पृथक्ता का भान करानेवाला है; अतः इसका स्वरूप जानना अत्यन्त उपयोगी है।**

भाई ! जबतक नास्तित्वधर्म का स्वरूप हमारे ख्याल में नहीं आवेगा, तबतक पर से भिन्न निज आत्मा की सच्ची पहचान संभव नहीं है। निजभगवान आत्मा की सच्ची पहचान बिना धर्म का आरंभ भी कैसे होगा? नास्तित्वधर्म का सच्चा स्वरूप समझने के लिए जिनागम में प्रतिपादित चार अभावों को गहराई से समझना चाहिए।

जिसप्रकार वस्तु के अस्तित्वधर्म को भावधर्म एवं नास्तित्वधर्म को अभावधर्म भी कहते हैं, उसीप्रकार अस्तित्वधर्म को विषय बनानेवाले अस्तित्वनय को भावनय एवं नास्तित्वधर्म को विषय बनानेवाले नास्तित्वनय को अभावनय भी कह सकते हैं।

जिसप्रकार भगवान आत्मा के अनन्तधर्मों में एक अस्तित्वधर्म है, एक नास्तित्वधर्म है; उसीप्रकार एक अस्तित्व-नास्तित्वधर्म भी है। जिसप्रकार अस्तित्वधर्म स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से है और वह भगवान आत्मा के अस्तित्व को कायम रखता है, टिकाये रखता है; नास्तित्वधर्म परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से है और वह भगवान आत्मा को पर से भिन्न रखता है, पर से संपूर्णतः अंसपृक्त रखता है; उसीप्रकार अस्तित्व-नास्तित्वधर्म स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से है और वह परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले अस्तित्व-नास्तित्व धर्मों की सत्ता को एक साथ एक ही आत्मा में रखने का महान कार्य सम्पन्न करता है।

(६) अवक्तव्यनय

अवक्तव्यनयेनायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरवक्तव्यम् ।।६।।

तात्पर्य यह है कि भले ही वाणी से अस्तित्व और नास्तित्वधर्मों को एक साथ कहा न जा सके, पर भगवान आत्मा में उनके एक साथ रहने में कोई बाधा नहीं है; क्योंकि भगवान आत्मा का एक धर्म ऐसा भी है, जिसके कारण ये धर्म एक ही आत्मा में एक साथ अविरोधपने रह सकते हैं। **अस्तित्व-नास्तित्व धर्म का अर्थ ही यह है कि आत्मा का ऐसा स्वभाव है कि उसमें अस्तित्व एवं नास्तित्व विरोधी प्रतीत होनेवाले धर्म एक साथ रहते हैं। इसप्रकार हम देखते हैं कि आत्मा में विद्यमान अस्तित्व, नास्तित्व एवं अस्तित्व-नास्तित्व नामक धर्मों को जाननेवाले या कहनेवाले अस्तित्वनय, नास्तित्वनय एवं अस्तित्व-नास्तित्वनय नामक तीन नय हैं ।।३-५ ।।**

सप्तभंगी संबंधी उक्त तीन नयों की चर्चा के उपरांत अब अवक्तव्यनय की बात करते हैं –

"लोहमय तथा अलोहमय, डोरी व धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी व धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधान-अवस्था में रहे हुए तथा संधान-अवस्था में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले बाण की भाँति आत्मद्रव्य अवक्तव्यनय से युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अवक्तव्य है।।६।।"

भगवान आत्मा के अनन्त धर्मों में अस्तित्वादि धर्मों के समान एक अवक्तव्य नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा वचनों द्वारा युगपत् सम्पूर्णत: व्यक्त नहीं किया जा सकता।

इस अवक्तव्य धर्म को विषय बनानेवाले सम्यक्श्रुतज्ञान के अंश को अवक्तव्यनय कहते हैं। शास्त्रों में यह बारम्बार आता है कि आत्मा वचन-

अगोचर है, अनुभवगम्य है। यह सब कथन भगवान आत्मा के अवक्तव्य धर्म का ही है, अवक्तव्यस्वभाव का ही है। भगवान आत्मा का ऐसा सूक्ष्म स्वभाव है कि वह वाणी की पकड़ में युगपत् सम्पूर्णत: नहीं आता।

यद्यपि यह बात सत्य है कि भगवान आत्मा में अवक्तव्य नामक धर्म होने से उसका स्वभाव अवक्तव्य है; तथापि अवक्तव्यधर्म के समान उसमें एक वक्तव्य नामक धर्म भी है; अत: वह कथंचित् वक्तव्य भी है। इसप्रकार वह न सर्वथा वक्तव्य ही है और न सर्वथा अवक्तव्य ही; वह कथंचित् वक्तव्य और कथंचित् अवक्तव्य है। आत्मवस्तु का ऐसा ही अनेकान्तात्मक स्वरूप है।

यदि हम किसी भी वस्तु को सर्वथा 'अवाच्य' ('अवक्तव्य') कहें तो यह कथन स्ववचनबाधित ही होगा, क्योंकि हम स्वयं उसे अवाच्य (अवक्तव्य) शब्द से वाच्य बना रहे हैं। यह वचन तो उसीप्रकार का होगा, जिसप्रकार कोई व्यक्ति दूसरे से कहे कि मेरा आज मौनव्रत है। 'मेरा आज मौनव्रत है' - ऐसा कहकर स्वयं ही उसने अपने मौनव्रत को भंग किया है। इसीप्रकार 'आत्मा अवक्तव्य है' - ऐसा कहकर हम स्वयं आत्मा को 'अवक्तव्य' शब्द से वाच्य बना रहे हैं।

वस्तुत: बात तो ऐसी है कि किसी भी वस्तु के सम्पूर्ण पक्षों को, गुण-धर्मों को एक साथ कहना संभव न होने से सभी वस्तुएँ कथंचित् अवाच्य हैं और वस्तु के विभिन्न धर्मों का क्रमश: प्रतिपादन शक्य होने से सभी वस्तुएँ कथंचित् वाच्य भी हैं।

यद्यपि जिससमय स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से भगवान आत्मा में अस्तित्वधर्म है, उसीसमय परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से नास्तित्वधर्म भी है; तथापि जिससमय अस्तित्वधर्म का प्रतिपादन किया जा रहा हो, उसीसमय नास्तित्वधर्म का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है; पर क्रम से उनका प्रतिपादन संभव है।

भगवान आत्मा के अनन्तधर्मों का या परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले अनन्तधर्मयुगलों का युगपद् प्रतिपादन असंभव होना अवक्तव्य

(७-९) अस्तित्व-अवक्तव्यनय, नास्तित्व-अवक्तव्यनय और अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्य नय

अस्तित्वावक्तव्यनयेनायोमयगुणकार्मुकातंरालवर्तिसंहितावस्थ-लक्ष्योन्मुखायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तराल-वर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चास्तित्ववद-वक्तव्यम् ॥७॥

नामक धर्म का कार्य है और क्रमशः प्रतिपादन संभव होना वक्तव्य नामक धर्म का कार्य है।

यद्यपि ४७ नयों में वक्तव्य नामक कोई नय नहीं है और सप्तभंगी में वक्तव्य नामक कोई भंग भी नहीं है, तथापि सभी ४७ नयों से आत्मा को वाच्य तो बनाया ही जा रहा है, यदि भगवान आत्मा कथंचित् भी वाच्य नहीं होता अर्थात् उसमें वाच्य बनने की शक्ति, स्वभाव, धर्म नहीं होता तो वह प्रमाण-नयों से वाच्य भी कैसे बनाया जा सकता था? अतः उसमें वाच्य नामक धर्म भी है ही।

सप्तभंगी के आरम्भ के तीन भंग वक्तव्य और अन्त के चार भंग अवक्तव्य के हैं। जिसप्रकार सप्तभंगी के अंतिम तीन भंगों को हम इसप्रकार व्यक्त करते हैं कि अस्ति-अवक्तव्य, नास्ति-अवक्तव्य और अस्तिनास्ति -अवक्तव्य; उसीप्रकार आरम्भ के तीन भंगों को इसप्रकार भी व्यक्त कर सकते है कि अस्तिवक्तव्य, नास्तिवक्तव्य, अस्ति-नास्तिवक्तव्य।

यदि भगवान आत्मा सर्वथा ही अवक्तव्य होता तो समस्त जिनवाणी निरर्थक होती; क्योंकि समस्त जिनवाणी एकप्रकार से भगवान आत्मा के प्रतिपादन के लिए ही तो समर्पित है तथा यदि भगवान आत्मा वाणी द्वारा पूरी तरह बताया जा सकता होता तो फिर शास्त्रों को पढ़कर या गुरुमुख से आत्मा का स्वरूप सुनकर सभी आत्मज्ञानी हो गये होते। इसप्रकार हम देखते हैं कि भगवान आत्मा अवक्तव्यनय से कथंचित् अवक्तव्य भी है ॥६॥

नास्तित्वावक्तव्यनयेनानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्था-लक्ष्योन्मुखखायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तराल-वर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च नास्तित्ववद-वक्तव्यम् ॥८॥

अस्तित्वनास्तित्वावक्तव्यनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहिता-वस्थलक्ष्योन्मुखानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्यो-न्मुखायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तराल-वर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखप्राक्तविशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्र-कालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्य क्षेत्रकालभावै-श्चास्तित्वनास्तित्ववदवक्तव्यम् ॥९॥

इसप्रकार अवक्तव्यनय के प्रतिपादन के उपरान्त अब अस्ति-अवक्तव्यनय, नास्ति-अवक्तव्यनय और अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यनयों की चर्चा करते हैं –

"लोहमय, डोरी और धनुष के मध्य स्थित, संधानदशा में रहे हुए, लक्ष्योन्मुख एवं लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य नहीं स्थित, संधानदशा में रहे हुए तथा संधानदशा में नहीं रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले बाण की भाँति आत्मद्रव्य अस्तित्व-अवक्तव्यनय से स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला अवक्तव्य है ॥७॥

अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य नहीं स्थित, संधानदशा में न रहे हुए, अलक्ष्योन्मुख एवं लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधानदशा में रहे हुए तथा संधानदशा में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख उसी बाण की भाँति आत्मद्रव्य नास्तित्व-अवक्तव्यनय से परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्ववाला अवक्तव्य है ॥८॥

लोहमय, डोरी और धनुष के मध्य स्थित, संधानदशा में रहे हुए, लक्ष्योन्मुख तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य नहीं स्थित, संधानदशा में नहीं रहे हुए, अलक्ष्योन्मुख एव लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य नहीं स्थित, संधानदशा में रहे हुए तथा संधानदशा में न रहे हुए, लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख उसी बाण की भाँति आत्मद्रव्य अस्तित्वनास्तित्व-अवक्तव्यनय से स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला-नास्तित्ववाला अवक्तव्य है॥९॥"

अनन्तधर्मात्मक भगवान आत्मा में एक अस्तित्व-अवक्तव्य नामक धर्म है, एक नास्तित्व-अवक्तव्य नामक धर्म है तथा एक अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्य नामक धर्म भी है। उन्हें विषय बनानेवाले सम्यक्-श्रुतज्ञान के अंशरूप क्रमश: अस्तित्व-अवक्तव्यनय, नास्तित्व-अवक्तव्यनय एवं अस्तित्वनास्तित्व-अवक्तव्यनय हैं।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि एक अस्तित्वधर्म और एक अवक्तव्यधर्म तो पहले ही कहे जा चुके हैं, फिर यह तीसरा अस्तित्व-अवक्तव्यधर्म कहने का क्या प्रयोजन है ? क्या यह धर्म अस्तित्व और अवक्तव्य दोनों को मिलाकर है? इसीप्रकार का प्रश्न नास्तित्व-अवक्तव्य एवं अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्य धर्म के संबंध में भी संभव है।

अरे भाई ! अस्तित्व और अवक्तव्य - इन दोनों धर्मों को मिलाकर वह अस्तित्व-अवक्तव्य धर्म कहा हो - ऐसा नहीं है, परन्तु अस्तित्व और अवक्तव्य - इन दोनों धर्मों से भिन्न अस्तित्व-अवक्तव्य नामक एक स्वतन्त्र धर्म है। जिसप्रकार श्रुतज्ञान के अनन्तनयों में अस्तित्वनय आदि सात नय भिन्न-भिन्न हैं; उसीप्रकार उन सात नयों के विषयभूत आत्मवस्तु में सात धर्म भी भिन्न-भिन्न हैं।

ये अस्तित्व, नास्तित्व आदि सात प्रकार के धर्म वस्तु के स्वभाव में ही हैं। अस्तित्व और नास्तित्व - ये दोनों ही धर्म वस्तु में हैं, अन्य पाँच धर्म नहीं हैं - ऐसा नहीं है।

यदि वस्तु में सातों धर्म नहीं होते तो उनका कथन भी नहीं होता, क्योंकि वाचक वाच्य को ही तो बताता है।

आत्मा में स्व की अपेक्षा अस्तित्व है, पर की अपेक्षा नास्तित्व है - इन दोनों धर्मों का प्रतिपादन क्रमशः ही हो सकता है, एक साथ नहीं - इस अपेक्षा से आत्मा अस्तित्वनास्तित्व-अवक्तव्यधर्मवाला है। इस धर्म के नाम में तीन शब्द आये हैं; अतः उनके वाच्यरूप तीन भिन्न-भिन्न धर्म नहीं समझना, किन्तु तीनों के वाच्यरूप एक धर्म है - इसप्रकार समझना।

सप्तभंगी संबंधी सात नयों के विषयभूत अस्तित्वादि धर्म सभी पदार्थों के मूलभूत धर्म हैं। भगवान आत्मा भी एक पदार्थ है, परमपदार्थ है; अतः उसमें भी ये पाये ही जाते हैं। पर से भिन्न निज भगवान आत्मा की सम्यक् जानकारी के लिए इन सात धर्मों का जानना अत्यन्त आवश्यक है।

अस्तित्वधर्म यह बताता है कि प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्वचतुष्टय से है; अतः किसी भी पदार्थ को अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए पर की या पर के सहयोग की रंच भी आवश्यकता नहीं है। भगवान आत्मा का अस्तित्व भी स्वचतुष्टय से ही है; अतः उसे भी स्वयं की सत्ता बनाये रखने के लिए पर के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है।

नास्तित्वधर्म यह बताता है कि प्रत्येक पदार्थ में परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप परचतुष्टय की नास्ति है; अतः किसी भी परपदार्थ का कोई भी हस्तक्षेप अन्य पदार्थ में संभव नहीं है। यह भगवान आत्मा भी नास्तित्वधर्म से सम्पन्न है; अतः हमें पर के हस्तक्षेप की आशंका से व्याकुल होने की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है।

पर का सहयोग भी एकप्रकार का हस्तक्षेप ही है। जब एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में पूर्णतः अभाव ही है, अप्रवेश ही है, तो फिर परस्पर सहयोग का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

अस्तित्वनास्तित्वधर्म के कारण ही परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले उक्त अस्तित्व एवं नास्तित्वधर्म वस्तु में एकसाथ रहते हैं। भले ही उनका एक साथ कहना संभव न हो, पर वे रहते तो वस्तु में एक साथ ही हैं। **कहने में क्रम और रहने में अक्रम (युगपद्) - यही स्वभाव है अस्तित्वनास्तित्वधर्म का।**

अस्तित्वनय स्व में स्वचतुष्टय की अस्ति, नास्तित्वनय स्व में परचतुष्टय की नास्ति एवं अस्तित्वनास्तित्वनय कथन में क्रम पड़ने पर भी स्व में अस्ति और नास्ति - इन दोनों धर्मों की युगपत् अस्ति बताता है। तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा में एक ऐसा भी धर्म है, जिसके कारण ये परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले अस्तित्व-नास्तित्वधर्म उसमें एक साथ रहते हैं। अस्तित्व एवं नास्तित्वधर्म के एक साथ रहनेरूप स्वभाव का नाम ही अस्ति-नास्तिधर्म है और इस धर्म को विषय बतानेवाला नय ही अस्तित्वनास्तित्वनय है।

नास्तित्वधर्म में भले पर की अपेक्षा लगती हो, पर वह पररूप नहीं है, वह आत्मवस्तु का स्वरूप ही है। इसीप्रकार उसका नाम भले ही नास्तित्व है, पर उसकी वस्तु में नास्ति नहीं, अस्ति है। तात्पर्य यह है कि अस्तित्वधर्म तो अस्तिरूप है ही, नास्तित्वधर्म भी अस्तिरूप है और अस्तित्वनास्तित्वधर्म भी अस्तिरूप ही है। भगवान आत्मा में रहनेवाले सभी धर्म अस्तिरूप ही हैं, कोई भी धर्म नास्तिरूप नहीं है।

भगवान आत्मा में अस्तित्व एवं नास्तित्व - इन दोनों के एक साथ रहने पर भी उनका कथन एक साथ संभव नहीं है। ऐसा ही स्वभाव है आत्मवस्तु का। आत्मवस्तु के इस स्वभाव का नाम ही अवक्तव्यधर्म है। इस अवक्तव्यधर्म को जाननेवाले ज्ञानांश का नाम ही अवक्तव्यनय है।

'आत्मा है या नहीं ?' - इस प्रश्न का उत्तर एक साथ नहीं दिया जा सकता। यह एक शब्द में नहीं बताया जा सकता। न तो 'है' ही कहा जा सकता है और न 'नहीं है' ही कहा जा सकता है। यही कहना होगा कि स्वचतुष्टय की अपेक्षा है और परचतुष्टय की अपेक्षा नहीं है;

पर इन दोनों बातों के कहने में क्रम पड़ता है, अतः क्रम से ही बताया जा सकता है, एक साथ नहीं। **एक साथ नहीं बताया जा सकता - बस इसी का नाम अवक्तव्यधर्म है।**

प्रश्न - एक साथ नहीं बताया जा सकता - यह तो वाणी की कमजोरी है, इसे आत्मा का धर्म कैसे माना जा सकता है ?

उत्तर - भाई ! आत्मा के स्वभाव में ही यह विशेषता है कि वह वाणी द्वारा एक साथ व्यक्त नहीं किया जा सकता। आत्मा के इस स्वभाव का नाम ही अवक्तव्यस्वभाव या अवक्तव्यधर्म है। यह धर्म बताता है कि अनन्तधर्मों का अधिष्ठाता यह भगवान आत्मा वचनों से युगपत् नहीं बताया जा सकता है; पर ज्ञान द्वारा जाना जा सकता है।

प्रश्न - अवक्तव्यनय से कहा नहीं जा सकता, पर अवक्तव्यनय से जाना तो जा सकता है ?

उत्तर - भाई ! ऐसी बात नहीं है। अवक्तव्यनय से कहा भी जा सकता है और जाना भी जा सकता है; पर मात्र यही कहा जा सकता है कि भगवान आत्मा अवक्तव्य है और मात्र यही जाना जा सकता है कि वह अवक्तव्य है। **तात्पर्य यह है कि अवक्तव्यनय से उसके अवक्तव्यधर्म को ही जाना जा सकता है; अनन्तधर्मों के अधिष्ठाता धर्मी आत्मा को जानने के लिए तो नयातीत होकर ही जानना होगा; क्योंकि वह तो श्रुतप्रमाणपूर्वक अनुभव से प्रमेय होता है - यह बात आरंभ में ही कही जा चुकी है।**

अस्तित्व-अवक्तव्यधर्म का स्वरूप भी यही है कि आत्मा की अस्ति तो है, पर वह अस्तित्व के अतिरिक्त भी बहुत कुछ और भी है, उसमें नास्तित्वधर्म भी है, पर वह सब इस समय में कहा नहीं जा सकता। इसप्रकार वह अस्तित्वमय और अवक्तव्यरूप एक साथ है। अस्तित्वमय और अवक्तव्यरूप एक साथ होनेरूप भी एक धर्म आत्मा में है, जिसका नाम है अस्तित्व-अवक्तव्यधर्म। इस धर्म को जानने या कहनेवाला नय ही अस्तित्व-अवक्तव्यनय है।

(१०-११) विकल्पनय और अविकल्पनय

विकल्पनयेन शिशुकुमाररस्थविरैकपुरुषवत् सविकल्पम्।।१०।।
अविकल्पनयेनैकपुरुषमात्रवदविकल्पम्।।११।।

यह धर्म यही बताता है कि 'है, पर अवक्तव्य है; अवक्तव्य है, पर है'। अत: वचन से विराम लेकर इस भगवान आत्मा के अस्तित्व में समा जाना ही श्रेयस्कर है।

नास्तित्व-अवक्तव्य धर्म आत्मा में पर की नास्ति एवं आत्मा की अनिर्वचनीयता को एक साथ बताता है। आत्मा में पर की नास्ति है - यह तो कहा, पर आत्मा इतना ही तो नहीं और भी अनन्तधर्मों की अस्ति आत्मा में है, अस्तित्वधर्म तो है ही, पर अभी अनन्तधर्मों का कहना संभव नहीं है - यह प्रकृति है नास्तित्व-अवक्तव्यधर्म की, जिसे नास्तित्व-अवक्तव्यनय विषय बनाता है।

अस्तित्वनास्तित्व-अवक्तव्यनय यह बताता है कि अस्तित्व भी है, नास्तित्व भी है; पर एक साथ वे कहे नहीं जा सकते हैं। इसप्रकार भगवान आत्मा अस्तित्ववाला भी है, नास्तित्ववाला भी है और अवक्तव्य भी है - सब कुछ एकसाथ है।

एक-एक नय से भगवान आत्मा के एक-एक धर्म को ही जाना जा सकता है; आत्मा के स्वरूप का गहराई से परिचय प्राप्त करने के लिए यह जरूरी भी है; पर अनन्तधर्मों के अधिष्ठाता भगवान आत्मा को जानने के लिए तो इन नयों से आत्मा को जानकर, इनसे विराम लेना होगा; अन्यथा विकल्पातीत, नयातीत नहीं हुआ जा सकेगा।

इसप्रकार तीसरे से नौवें नय तक ये सप्तभंगी सम्बन्धी सात नय हैं। इन सप्तभंगी सम्बन्धी सात नयों को विशेष समझने के लिए जिनागम में प्रतिपादित 'सप्तभंगी' सिद्धांत को गहराई से समझना चाहिए।।७-९।।

सप्तभंगी संबंधी नयों की चर्चा के उपरान्त अब विकल्पनय और अविकल्पनय की चर्चा करते हैं –

"आत्मद्रव्य विकल्पनय से बालक, कुमार और वृद्ध - ऐसे एक पुरुष की भाँति सविकल्प है और अविकल्पनय से एक पुरुषमात्र की भाँति अविकल्प है॥१०-११॥"

यहाँ 'विकल्प' का अर्थ भेद है और 'अविकल्प' का अर्थ अभेद है। जिसप्रकार एक ही पुरुष बालक, जवान और वृद्ध - इन अवस्थाओं को धारण करनेवाला होने से बालक, जवान एवं वृद्ध - ऐसे तीन भेदों में विभाजित किया जाता है; उसीप्रकार भगवान आत्मा भी ज्ञान, दर्शनादि गुणों एवं मनुष्य, तिर्यंच, नरक, देवादि अथवा बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा आदि पर्यायों के भेदों में विभाजित किया जाता है।

तथा जिसप्रकार बालक, जवान एवं वृद्ध अवस्थाओं में विभाजित होने पर भी वह पुरुष खण्डित नहीं जो जाता, रहता तो वह एक मात्र अखण्डित पुरुष ही है। उसीप्रकार ज्ञान-दर्शनादि गुणों एवं नरकादि अथवा बहिरात्मादि पर्यायों के द्वारा भेद को प्राप्त होने पर भी भगवान आत्मा रहता तो एक अखण्ड आत्मा ही है।

तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा में एक विकल्प नामक धर्म है, जिसके कारण आत्मा गुण-पर्यायों के भेदों में विभाजित होता है; अतः इसे भेद नामक धर्म भी कह सकते हैं। इस विकल्प (भेद) नामक धर्म को विषय बनानेवाला नय विकल्पनय है। इसीप्रकार भगवान आत्मा में एक अविकल्प नामक धर्म भी है, जिसके कारण आत्मा अभेद-अखण्ड रहता है, अतः इसे अभेद नामक धर्म भी कह सकते हैं। इस अभेद नामक धर्म को विषय बनानेवाला नय ही अविकल्पनय है। इन विकल्प और अविकल्प नयों को क्रमशः भेदनय और अभेदनय भी कहा जा सकता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आत्मा में विद्यमान गुण-पर्याय भेदों को विषय बनानेवाला नय विकल्पनय और एक अभेद अखण्ड आत्मा को विषय बनाने वाला नय अविकल्पनय है।

अनन्तधर्मात्मक आत्मा के अनन्तधर्मों में एक भेदधर्म है और

(१२-१५) नामनय, निक्षेपसंबंधीनय, स्थापनानय, द्रव्यनय और भावनय

नामनयेन तदात्मवत् शब्दब्रह्मामर्शि ।।१२।। स्थापनानयेन मूर्तित्ववत्सकलपुद्गलालम्बि ।।१३।। द्रव्यनयेन माणवकश्रेष्ठिश्रमणपार्थिववदनागतातीतपर्यायोद्भासि ।।१४।। भावनयेन पुरुषायितप्रवृत्तयोषिद्वत्तदात्वपर्यायोल्लासि ।।१५।।

एक अभेदधर्म है, जिन्हें विकल्पधर्म और अविकल्पधर्म भी कहते हैं। इन विकल्पधर्म और अविकल्पधर्म को विषय बनानेवाले नय ही क्रमशः विकल्पनय और अविकल्पनय हैं ।।१०-११।।

विकल्पनय और अविकल्पनय के विवेचन के उपरान्त अब चार निक्षेप संबंधी नयों की चर्चा करते हैं –

"आत्मद्रव्य नामनय से नामवाले की भाँति शब्दब्रह्म को स्पर्श करनेवाला है, स्थापनानय से मूर्तिपने की भाँति सर्व पुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला है, द्रव्यनय से बालक सेठ और श्रमण राजा की भाँति अनागत और अतीत पर्याय से प्रतिभासित होता है और भावनय से पुरुष के समान प्रवर्तमान स्त्री की भाँति वर्तमान पर्यायरूप से उल्लसित-प्रकाशित-प्रतिभासित होता है ।।१२-१५।।"

उक्त चार नय निक्षेपों सम्बन्धी नय हैं। भगवान आत्मा में नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव नामक चार धर्म हैं, जिन्हें उक्त चार नय क्रमशः अपना विषय बनाते हैं। जगत में जितने भी पदार्थ हैं, वे सभी किसी न किसी नाम से जाने जाते हैं। बिना नाम का कोई भी पदार्थ जगत में नहीं है। आत्मा भी एक पदार्थ है; अतः वह भी 'आत्मा' - इस नाम से जाना जाता है। यदि आत्मा में नाम नामक धर्म नहीं होता तो फिर उसका प्रतिपादन संभव नहीं था।

जिसप्रकार आत्मा में एक ऐसा धर्म है, जिसके कारण आत्मा किसी नाम द्वारा जाना जाता है; उसीप्रकार एक ऐसा भी धर्म है,

जिसके कारण आत्मा स्थापना द्वारा भी जाना जा सकता है। आत्मा की स्थापना किसी न किसी पुद्गल में की जाती है; अतः यहाँ कहा गया है कि आत्मद्रव्य स्थापनानय से मूर्तिपने की भाँति सर्व पुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला है।

जिसप्रकार मूर्ति में भगवान की स्थापना की जाती है, उसीप्रकार किसी भी पुद्गलपिण्ड में आत्मा की भी स्थापना की जा सकती है। जिस वस्तु में जिस व्यक्ति की स्थापना की जाती है, उस वस्तु के देखने पर वह व्यक्ति खयाल में आता है - इसप्रकार वह वस्तु स्थापना के द्वारा उस व्यक्ति का ज्ञान करानेवाली हुई।

यह स्थापना तदाकार भी हो सकती है और अतदाकार भी। तदाकार स्थापना में इस बात का ध्यान रखा जाता है कि जिस व्यक्ति की स्थापना जिन पुद्गलपिण्डों में की जा रही है, वे पुद्गलपिण्ड उसी व्यक्ति के आकार में होने चाहिए। जैसे कि गाँधीजी की स्थापना गाँधी के चित्र में या गाँधीजी की तदाकार प्रतिमा में करना। अतदाकार स्थापना में इसकी आवश्यकता नहीं होती, हम किसी भी आकार की वस्तु में किसी की भी स्थापना कर सकते हैं। जैसे कि बिना हाथी-घोड़े के आकार की शतरंज की गोटों में हाथी-घोड़ों की कल्पना करना।

नाम और स्थापना के समान आत्मा में एक द्रव्य नामक धर्म भी है, जिसके कारण आत्मा अपनी भूतकालीन एवं भविष्यकालीन पर्यायोंरूप दिखाई देता है। जिसप्रकार सेठ का बालक भविष्य का सेठ ही है; अतः उसे वर्तमान में भी सेठजी कह दिया जाता है अथवा जो राजा मुनि हो गया है, उसे मुनि-अवस्था में भी राजा कहा जाता है। - ये सब द्रव्यनय के ही कथन हैं।

इसप्रकार के कथन लोक में ही नहीं, जिनागम में भी सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। क्या आगम में यह लिखा नहीं मिलता है कि भरत चक्रवर्ती मोक्ष गये ? वस्तुतः बात तो यह है कि कोई भी व्यक्ति चक्रवर्ती पद पर

रहते हुए मोक्ष नहीं जा सकता है। भरत ने जब चक्रवर्ती पद त्यागकर मुनिदीक्षा ली, तब वे मोक्ष गये। मोक्ष तो भरत मुनि गये, किन्तु भूतपर्याय **का वर्तमानपर्याय में आरोप करके यही कहा जाता है कि भरत चक्रवर्ती मोक्ष गये।** इसीप्रकार आदिनाथ से लेकर महावीर तक सभी तीर्थंकर वर्तमान में तो सिद्धदशा में हैं; तथापि उन्हें हम आज भी तीर्थंकर ही कहते हैं। भगवान का जन्म कहना भी इसी नय का कथन है, क्योंकि जिस जीव का अभी जन्म हुआ है, वह अभी तो बालक ही है, पर भविष्य में भगवान बननेवाला है; अतः उसे अभी भी 'भगवान' कहने का व्यवहार लोक में प्रचलित है।

भगवान आत्मा में द्रव्यधर्म नामक एक ऐसा धर्म है, जिसके कारण आत्मा भूतकालीन और भविष्यकालीन अर्थात् नष्ट और अनुत्पन्न पर्यायरूप कहा जाता है। उस द्रव्य नामक धर्म को विषय बनानेवाले नय का नाम द्रव्यनय है।

सैंतालीस नयों में पहले नय का नाम भी द्रव्यनय है और इस चौदहवें नय का नाम भी द्रव्यनय है। नाम एक से होने पर भी इन दोनों नयों के स्वरूप में अन्तर है। प्रथम द्रव्यनय के साथ पर्यायनय आया है और इस द्रव्यनय के साथ भावनय आया है। वहाँ द्रव्यनय और पर्यायनय - ऐसा जोड़ा है और यहाँ द्रव्यनय और भावनय - ऐसा जोड़ा है। **प्रथम द्रव्यनय का विषय सामान्य चैतन्यमात्र द्रव्य है और इस द्रव्यनय का विषय भूत-भावी पर्यायवाला द्रव्य है।**

जिसप्रकार द्रव्यनय से भगवान आत्मा भूत और भविष्यकालीन पर्याय के रूप में जाना जाता है; उसीप्रकार भावनय से वह वर्तमान-पर्यायरूप से जाना जाता है। इस बात को आचार्यदेव पुरुष के समान प्रवर्तमान स्त्री का उदाहरण देकर समझाते हैं।

जिसप्रकार पुरुष के भेष में रहकर पुरुष के समान व्यवहार करनेवाली स्त्री पुरुष जैसी ही प्रतीत होती है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भी

वर्तमान में प्रवर्तित होने से वर्तमान पर्यायरूप ही प्रतिभासित होता है। सम्यग्दर्शन से युक्त आत्मा सम्यग्दृष्टी कहा जाता है, सम्यग्दृष्टी के रूप में जाना भी जाता है। सम्यग्दर्शन से युक्त जीव को जीव न कहकर सम्यग्दृष्टी कहना या जानना ही भावनय है।

भगवान आत्मा में एक ऐसा धर्म है, जिसके कारण यह आत्मा वर्तमान पर्यायरूप से जाना जाता है, कहा जाता है। उस धर्म का नाम है भावधर्म और उसे जाननेवाले श्रुतज्ञान के अंश का नाम है भावनय।

आत्मद्रव्य के भूत और भावी पर्यायों से युक्त जानना द्रव्यनय है और वर्तमान पर्याय से युक्त जानना भावनय है। जिसप्रकार पूजन करते हुए मुनीम को पुजारी भी कहा जा सकता है और मुनीम भी, भावनय से वह पुजारी है और द्रव्यनय से मुनीम। वर्तमान में पूजन करनेरूप पर्याय से युक्त होने से उसे पुजारी कहना उपयुक्त ही है; तथापि भूत और भावी पर्यायों की युक्तता से विचार करने पर वह मुनीम ही प्रतीत होता है; क्योंकि पूजन के पहले वह मुनीमी ही करता रहा है और बाद में भी मुनीमी ही करनेवाला है।

जो व्यक्ति उसके सम्पूर्ण जीवन से एकदम अपरिचित है, वह उसे पूजा करते देखकर यही कहेगा कि पुजारीजी ! क्या मैं भी आपके साथ पूजन कर सकता हूँ; किन्तु जो उसे व उसके सम्पूर्ण जीवन को जानता है, वह यही कहेगा कि मुनीमजी ! क्या मैं भी आपके साथ पूजन कर सकता हूँ; इसीप्रकार पूजन करते हुए राजा को प्रयोजनवश पुजारी और राजा दोनों ही कहा जा सकता है। पूजन कराते हुए प्रतिष्ठाचार्य भी यह कहते हुए सुने जाते हैं कि सभी पुजारी हाथ में अर्घ ले लें, साथ में उन्हीं पुजारियों में से किसी से यह भी कहते देखा जा सकता है कि सेठजी ! आपने अर्घ क्यों नहीं लिया ?

भूतकालीन एवं भविष्यकालीन तीर्थंकरों की मूर्तिप्रतिष्ठा स्थापनानय के साथ-साथ द्रव्यनय का विषय भी है; क्योंकि स्थापनानय तो मात्र पौद्गलिकमूर्ति में चेतन परमात्मा की प्रतिष्ठा को विषय बनायेगा,

पर यहाँ तो जिन तीर्थंकर आत्माओं की जिस अरहंतपर्याय की स्थापना मूर्ति में की जा रही है, वे आत्मा वर्तमान में उस पर्यायरूप से परिणमित नहीं हो रहे हैं, उनमें से भूतकालीन तीर्थंकर तो वर्तमान में सिद्धपर्यायरूप से परिणमित हो रहे हैं और भावी तीर्थंकर अभी देवादि किसी पर्याय में होंगे। अत: आत्मा को भूतकालीन और भविष्यकालीन पर्यायों के रूप में देखनेवाला द्रव्यनय के बिना भूतकालीन और भविष्यकालीन तीर्थंकरों की प्रतिष्ठा का व्यवहार संभव नहीं है। इस दृष्टि से देखने पर जिन्हें हम वर्तमान चौबीसी कहते हैं, वे ऋषभादि तीर्थंकर भी भूतकालीन ही हैं; क्योंकि वे वर्तमान में सिद्धदशा में ही हैं। वर्तमानदशारूप परिणमित तो सीमन्धरादि विद्यमान बीस तीर्थंकर ही हैं; क्योंकि वे ही अभी अरहंत-अवस्था में विद्यमान हैं।

अत: सीमन्धरादि तीर्थंकर अरहंतों की प्रतिष्ठा स्थापनानय एवं द्रव्यनय के आश्रित है। नामनय का उपयोग तो अनिवार्य है ही; क्योंकि इसके बिना तो यह कहना ही संभव नहीं कि यह प्रतिमा अमुक तीर्थंकर की है।

इसप्रकार मूर्तिप्रतिष्ठा का समस्त व्यवहार नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भावनयों के आधार पर प्रचलित व्यवहार है। यही कारण है कि निक्षेप की परिभाषा इसप्रकार दी गई है कि नयों के द्वारा प्रचलित लोक व्यवहार को निक्षेप कहते हैं। इसप्रकार का लोकव्यवहार मात्र जिनेन्द्र-प्रतिष्ठाओं में ही नहीं, अपितु लोक के अन्य व्यवहारों में भी प्रचलित है। चित्रकला, मूर्तिमाला आदि अनेक चीजों का आधार यही नय है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि नामधर्म, स्थापनाधर्म, द्रव्यधर्म और भावधर्म - आत्मा के ये चार धर्म ज्ञेय हैं और इनके आधार पर आत्मा को जाननेवाले श्रुतज्ञान के अंशरूप नामनय, स्थापनानय, द्रव्यनय और भावनय - **ये चार नय ज्ञान हैं और इनके आधार पर प्रचलित लोकव्यवहार रूप चार निक्षेप हैं।।१२-१५।।**

(१६-१७) सामान्यनय और विशेषनय

सामान्यनयेन हारस्रग्दामसूत्रवद्व्यापि॥१६॥ विशेषनयेन तदेक-मुक्ताफलवदव्यापि॥१७॥

चार निक्षेप संबंधी नयों की चर्चा के उपरान्त अब सामान्यनय और विशेषनय की चर्चा करते हैं –

"आत्मद्रव्य सामान्यनय से हार-माला-कंठी के डोरे की भाँति व्यापक है और विशेषनय से उसके एक मोती की भाँति अव्यापक है॥१६-१७॥"

जिसप्रकार हार या माला के प्रत्येक पुष्प में अथवा कंठी के प्रत्येक मोती में डोरा व्याप्त रहता है; उसीप्रकार भगवान आत्मा अपने सम्पूर्ण गुण व पर्यायों में व्याप्त रहता है। तथा जिसप्रकार उसी कंठी या हार का एक मोती अन्य मोतियों में अथवा सम्पूर्ण कंठी या हार में व्याप्त नहीं रहता; उसीप्रकार भगवान आत्मा की एक पर्याय अन्य पर्यायों में अथवा सम्पूर्ण आत्मद्रव्य में व्याप्त नहीं रहती।

भगवान आत्मा में एक सामान्य नामक धर्म है, जिसके कारण वह भगवान आत्मा अपने प्रत्येक गुण व अपनी प्रत्येक पर्याय में व्याप्त रहता है। आत्मा के इस सामान्यधर्म को जानने या कहनेवाले नय को सामान्यनय कहते हैं। इसीप्रकार भगवान आत्मा में एक विशेष नामक धर्म है, जिसके कारण भगवान आत्मा की एक पर्याय अन्य पर्यायों में अथवा सम्पूर्ण आत्मा में व्याप्त नहीं होती। आत्मा के इस विशेषधर्म को जानने या कहनेवाले नय को विशेषनय कहते हैं।

आत्मद्रव्य में स्वभावगत ही ऐसी विशेषता है कि वह अपने सम्पूर्ण गुणपर्यायों में व्याप्त रहता है, इसकारण उसे व्यापक कहा जाता है तथा एक ऐसी भी विशेषता है कि उसकी एक पर्याय सम्पूर्ण द्रव्य में नहीं व्यापती, अन्य पर्यायों में भी नहीं व्यापती, इसकारण उसे अव्यापक भी कहा जाता है। इसी बात को नयों की भाषा में इसप्रकार व्यक्त करते हैं कि आत्मा सामान्यनय से व्यापक है और विशेषनय से अव्यापक है।

'आत्मा व्यापक है' - इसका अर्थ लोक में ऐसा भी लिया जाता है

कि वह सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है, पर यहाँ ऐसी बात नहीं है। यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि भगवान आत्मा अपने चैतन्यलोक में व्याप्त है, अपने सम्पूर्ण गुणों और पर्यायों में व्याप्त है, फैला हुआ है, पसरा हुआ है। भगवान आत्मा का परपदार्थों में व्याप्त होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है।

प्रवचनसार की २३ वीं गाथा में जो आत्मा को सर्वगत कहा गया है, उसका अर्थ तो मात्र इतना है कि वह सम्पूर्ण लोकालोक को जानने के स्वभाववाला है। उसमें साफ-साफ लिखा है कि आत्मा ज्ञानप्रमाण है, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है और ज्ञेय सम्पूर्ण लोकालोक है; इसलिए आत्मा सर्वगत है। वहाँ तो मात्र सबको जानने की बात है और यहाँ आत्मा अपने सामान्य स्वभाव के कारण अपने गुणों व पर्यायों में पूर्णतः व्याप्त है - यह कहा जा रहा है। प्रवचनसार की २३ वीं गाथा संबंधी बात सर्वगतनय और असर्वगतनय के प्रकरण में यथास्थान की जावेगी; यहाँ तो सामान्य और विशेष - इन दोनों नयों के माध्यम से मात्र इतना कहा जा रहा है कि आत्मा अपनी सम्पूर्ण पर्यायों में तो व्याप्त है, पर उसकी प्रत्येकपर्याय आत्मा में त्रिकाल व्याप्त नहीं है; क्योंकि उसकी एक पर्याय दूसरी पर्याय में व्याप्त नहीं है।

प्रश्न - भावनय और द्रव्यनय के प्रकरण में भी तो कुछ इसीप्रकार कहा था ? उनमें और इसमें क्या अन्तर है ?

उत्तर - यह भगवान आत्मा भावनय से वर्तमानपर्यायरूप प्रतिभासित होता है, द्रव्यनय से भूत-भावीपर्यायरूप से प्रतिभासित होता है और इस सामान्यनय से भूत, वर्तमान और भविष्य - इन तीनों काल की पर्यायों में व्याप्त प्रतिभासित होता है।

सामान्यनय से अर्थात् द्रव्य-अपेक्षा आत्मा सर्व पर्यायों में व्याप्त है, पर विशेषनय से अर्थात् पर्याय-अपेक्षा आत्मा सर्व पर्यायों में व्याप्त नहीं है; इसलिए यह कहा जाता है कि आत्मा सामान्यनय से व्यापक है और विशेषनय से अव्यापक है।

वस्तुतः बात यह है कि द्रव्य और पर्याय में व्यापक-व्याप्य सम्बन्ध

(१८-१९) नित्यनय और अनित्यनय

नित्यनयेन नटवदवस्थायि।।१८।। अनित्यनयेन रामरावणवदन-वस्थायि।।१९।।

होता है। द्रव्य व्यापक है और पर्याय व्याप्य है। पर्याय व्याप्य है - इसका अर्थ यह हुआ कि वह व्यापक नहीं है। 'व्यापक नहीं है' को ही 'अव्यापक है' - इसप्रकार कहा जाता है। इसप्रकार यह निश्चित हुआ कि द्रव्य-अपेक्षा व्यापक है और पर्याय-अपेक्षा अव्यापक है।

इसी को नयों की भाषा में इसप्रकार कहते हैं कि सामान्यनय से आत्मा व्यापक है और विशेषनय से अव्यापक है।।१६-१७।।

सामान्यनय और विशेषनय की चर्चा के उपरान्त अब नित्यनय और अनित्यनय की चर्चा करते हैं –

"आत्मद्रव्य नित्यनय से नट की भाँति अवस्थायी है और अनित्यनय से राम-रावण की भाँति अनवस्थायी है।१८-१९।।"

जिसप्रकार राम-रावण आदि के नित बदलते भिन्न-भिन्न अनेक स्वाँग रखने पर भी नट राम-रावण नहीं हो जाता, नट ही रहता है। वह स्वाँग चाहे जो भी रखे, पर उसका नटपना कायम रहता है। उसी प्रकार यह भगवान आत्मा नर-नारकादि पर्यायों को बदल-बदल कर धारण करता हुआ भी आत्मा ही रहता है। ऐसा ही आत्मा का स्वभाव है। आत्मा के इस स्वभाव का नाम ही नित्यधर्म है। इस धर्म को जाननेवाले या कहनेवाले नय का नाम नित्यनय है। इसी बात को इसतरह भी कह सकते हैं कि आत्मा नित्यनय से अवस्थायी (नहीं बदलने वाला) है। जिसप्रकार आत्मा में एक नित्य नामक धर्म है; उसीप्रकार एक अनित्य नामक धर्म भी है, जिसके कारण आत्मा नित्य स्थायी रहकर भी निरन्तर बदलता रहता है। इस अनित्य नामक धर्म को जानने या कहनेवाले नय का नाम अनित्यनय है। इसी बात को इसप्रकार भी कह सकते हैं कि आत्मा अनित्यनय से अनवस्थायी (नित बदलने

वाला) है। जिसप्रकार नट नित्य एक नटरूप रहकर भी राम-रावणादि के स्वाँगरूप होता रहता है; उसीप्रकार भगवान आत्मा भी नित्य एक आत्मरूप रहकर भी मनुष्यादि पर्यायों को धारण करता हुआ नित बदलता ही रहता है; अत: अनवस्थायी है, अनित्य है।

तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा नित्यनय से प्रतिसमय अवस्थायी (नित्य) है और अनित्यनय से प्रतिसमय अनवस्थायी (अनित्य) है। इसप्रकार भगवान आत्मा नित्य (अवस्थायी) भी है और अनित्य (अनवस्थायी) भी है।

अनन्तधर्मात्मक भगवान आत्मा के अनन्तधर्मों में परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले नित्य और अनित्य धर्म आत्मा में एकसाथ ही रहते हैं; इसकारण यह भगवान नित्य बदलकर भी कभी नहीं बदलता है और नहीं बदलकर भी नित्य बदलता रहता है।

सीधी-सी बात यह है कि जिसप्रकार राम-रावण के स्वाँग नट के नटपने के विरोधी नहीं, निषेधक नहीं हैं तथा नट का नटपना राम-रावण स्वाँगों का विरोधी नहीं है; क्योंकि वे एकसाथ रह सकते हैं।

जैसे :- नट, राम और नट तो एकसाथ रह सकता है, पर वह राम और रावणरूप एकसाथ नहीं रह सकता है। जब वह राम का वेष धारण करेगा, तब रावण का वेष नहीं धर सकता है और जब रावण का का वेष धारण करेगा, तब राम का नहीं धर सकता है।

अत: स्वाँग तो परस्पर विरोधी हैं, पर नट और स्वाँग परस्पर विरोधी नहीं हैं। भले ही विरोधी दिखते हों, पर विरोधी हैं नहीं; क्योंकि एक ही काल में यदि हम उसे स्वाँग की अपेक्षा देखेंगे तो राम दिखेगा और स्वाँगधर्त्ता की अपेक्षा देखेंगे तो नट दिखेगा।

रमेश नामक नट राम का पाठ कर रहा हो, उस समय कोई प्रश्न करे कि 'यह कौन है?' तो इसके एक साथ दो उत्तर दिये जा सकते हैं; कोई कहे राम और कोई कहे रमेश। दोनों में से एक भी उत्तर गलत नहीं है;

(२०-२१) सर्वगतनय और असर्वगतनय

सर्वगतनयेनविस्फारिताक्षचक्षुर्वत्सर्ववर्ति ॥२०॥ असर्वगतनयेन मीलिताक्षचक्षुर्वदात्मवर्ति ॥२१॥

क्योंकि वह राम और रमेश एकसाथ है। इसीप्रकार आत्मा में रहनेवाले नित्य और अनित्य धर्म भले ही विरोधी प्रतीत होते हों, पर वे परस्पर विरोधी नहीं हैं; क्योंकि वे दोनों एकसाथ एक आत्मा में रहते हैं।

यह भगवान आत्मा द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु है; अतः द्रव्यदृष्टि से नित्य है और पर्यायदृष्टि से अनित्य है। ऐसा नित्य-अनित्य होनेरूप इसका स्वभाव ही है। स्थायीरूप रहने के स्वभाव को नित्यधर्म कहते हैं और बदलते रहनेरूप स्वभाव को अनित्यधर्म कहते हैं।

इन नित्य-अनित्य धर्मों को जाननेवाले ज्ञान को या कहनेवाले वचनों को क्रमशः नित्यनय और अनित्यनय कहा जाता है॥१८-१९।

नित्यनय और अनित्यनय की चर्चा के उपरान्त अब यहाँ सर्वगत और असर्वगतनय की चर्चा आरंभ करते हैं –

"आत्मद्रव्य सर्वगतनय से खुली हुई आँख की भाँति सर्ववर्ती (सब में व्याप्त होनवाला) है और असर्वगतनय से मींची हुई (बंद) आँख की भाँति (आत्मवर्ती) अपने में रहनेवाला है॥२०-२१॥"

जिसप्रकार सब में घूमने-फिरनेवाली होने से खुली आँख को सर्वगत कहा जाता है; उसीप्रकार सबको देखने-जानने के स्वभाववाला होने से भगवान आत्मा को सर्वगत कहा जाता है।

जिसप्रकार बन्द आँख अपने में ही रहती है; उसीप्रकार सबको देखने-जानने के स्वभाववाला होने पर भी, सबको देखते-जानते हुए भी, भगवान आत्मा अपने असंख्य प्रदेशों के बाहर नहीं जाता, अपने में ही रहता है; अतः असर्वगत है, आत्मगत है।

इसप्रकार सर्वगतनय से आत्मा सर्वगत है और असर्वगतनय से

आत्मगत है, असर्वगत है। **इन सर्वगत और असर्वगत नयों के माध्यम से यह बताया जा रहा है कि भगवान आत्मा में एक ऐसा धर्म है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा अपने असंख्य प्रदेशों में रहकर भी, अपने असंख्य प्रदेशों के बाहर नहीं जाकर भी लोकालोक को जानता है, देखता है, जान सकता है, देख सकता है। आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है। आत्मा के इस स्वभाव का नाम ही सर्वगतधर्म है।**

भले ही यह भगवान आत्मा सबको जाने, पर इसे पर को जानने के लिए अपने आत्मप्रदेशों को छोड़कर पर में जाने की आवश्यकता नहीं है; अपने आत्मप्रदेशों में रहकर ही यह पर को जानने की सामर्थ्यवाला है। चूँकि यह अपने आत्मप्रदेशों के बाहर नहीं जाता है; अत: यह आत्मगत ही है। इस आत्मगतपने को ही असर्वगत भी कहते हैं।

इसप्रकार भगवान आत्मा में एक सर्वगत नामक धर्म है और एक असर्वगत नामक धर्म है। आत्मा के सर्वगतधर्म को अथवा सर्वगतधर्म की ओर से आत्मा को देखनेवाले नय को सर्वगतनय और असर्वगतधर्म को या असर्वगतधर्म की ओर से आत्मा को देखनेवाले नय को असर्वगतनय कहते हैं।

इसी बात को इसप्रकार भी कहा जा सकता है कि आत्मा सर्वगतनय से सर्ववर्ती है, सबमें व्याप्त रहनेवाला है और असर्वगतनय से आत्मा आत्मवर्ती है, अपने में ही रहनेवाला है, अपने में ही व्याप्त है, सबमें नहीं।

प्रश्न - जिसप्रकार खुली आँख देखती है और बन्द आँख नहीं देखती; उसीप्रकार सर्वगतनय से आत्मा सबको देखता-जानता है और असर्वगतनय से सबको देखता-जानता नहीं है - ऐसा सीधा-सा अर्थ क्यों नहीं लेते ?

उत्तर - इन दोनों नयों के माध्यम से आचार्यदेव पर को जानने और नहीं जानने की बात नहीं बताना चाहते हैं; अपितु आत्मा के स्वभाव की इस विशेषता को स्पष्ट करना चाहते हैं कि वह अपने आत्मप्रदेशों में

(२२-२३) शून्यनय और अशून्यनय

शून्यनयेन शून्यागारवत्केवलोद्भासि ॥२२॥ अशून्यनयेन लोकाक्रांतनौवन्मिलितोद्भासि ॥२३॥

स्थित रहकर भी लोकालोक के सम्पूर्ण पदार्थों को जान सकता है, देख सकता है। सम्पूर्ण लोक को देखने-जानने के लिए उसे सम्पूर्ण लोक में जाने की आवश्यकता नहीं है। **तात्पर्य यह है कि यह भगवान आत्मा अपने में ही सीमित रहकर भी सम्पूर्ण लोक को देख-जान सकता है और सम्पूर्ण लोक को देख-जानकर भी आत्मप्रदेशों से बाहर नहीं जाता। भगवान आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है। आत्मा के इस स्वभाव का प्रतिपादन ही दोनों नयों का मूल प्रयोजन है।**

अत: यहाँ उदाहरण में जो खुली आँख और बन्द आँख की बात कही है, उसका अर्थ आचार्यदेव को मात्र इतना ही अभीष्ट है कि खुली आँख चारों ओर घूमती है और बन्द आँख अपने में ही रहती है। आँख जानती है और नहीं जानती है - यह बात यहाँ है ही नहीं॥२०-२१॥

सर्वगतनय और असर्वगतनय की चर्चा के उपरान्त अब शून्यनय और अशून्यनय की चर्चा करते हैं –

"आत्मद्रव्य शून्यनय से शून्य (खाली) घर की भाँति एकाकी (अकेला-अमिलित) भासित होता है और अशून्यनय से लोगों से भरे हुए जहाज की भाँति मिलित भासित होता है॥२२-२३॥"

अनन्तधर्मात्मक भगवान आत्मा के ज्ञानस्वभाव में अनन्त ज्ञेय (पदार्थ) प्रतिबिम्बित होते हैं; तथापि कोई भी ज्ञेय (पदार्थ) भगवान आत्मा में मिल नहीं जाता। तात्पर्य यह है कि अनन्त पदार्थों को जानकर भी यह भगवान आत्मा सूने घर की भाँति उनसे खाली ही रहता है। इस भगवान आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है कि अनन्त पदार्थों को जानकर भी वह उनसे अमिलित रहता है, अलिप्त रहता है, शून्य रहता है।

भगवान आत्मा के इस अलिप्तस्वभाव को, अमिलितस्वभाव को, शून्यस्वभाव को ही शून्यधर्म कहते हैं और इस शून्यधर्म को विषय बनानेवाले सम्यग्ज्ञान के अंश को शून्यनय कहते हैं।

यद्यपि यह सत्य है कि कोई भी पदार्थ भगवान आत्मा में मिलता नहीं है; तथापि यह भगवान आत्मा उन्हें जानता अवश्य है।

यदि इस जानने को ही मिलना कहें तो यह भी कह सकते हैं कि यह भगवान आत्मा लोगों से भरे हुए जहाज की भाँति अनन्त ज्ञेयों (पदार्थों) से भरा हुआ है, मिलित है, अशून्य है।

भगवान आत्मा के इस अशून्यस्वभाव को ही अशून्यधर्म कहते हैं और इस अशून्यधर्म को विषय बनानेवाले सम्यग्ज्ञान के अंश को अशून्यनय कहते हैं। तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा में एक शून्य नामक धर्म है और एक अशून्य नामक धर्म है तथा इनके कारण भगवान आत्मा शून्य भी है और अशून्य भी है।

शून्य नामक धर्म यह बताता है कि भगवान आत्मा अनन्त ज्ञेयों (पदार्थों) को जानकर भी उनसे शून्य (खाली - अमिलित) ही रहता है और अशून्य नामक धर्म यह बताता है कि ज्ञेयो (परपदार्थों) का आत्मा में अप्रवेश रहकर भी यह भगवान आत्मा ज्ञेयों के ज्ञान से शून्य नहीं रहता, अशून्य (भरा हुआ - मिलित) रहता है।

आत्मा के परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले इन धर्मों का ज्ञान कराना ही इन दोनों नयों का उद्देश्य है।

आत्मा के शून्य नामक धर्म को विषय बनानेवाले ज्ञान को व कहने वाले वचन को शून्यनय कहते हैं और अशून्य नामक धर्म को विषय बनानेवाले ज्ञान को व कहनेवाले वचन को अशून्यनय कहते हैं।

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि आत्मद्रव्य शून्यनय से सूने घर की भाँति ज्ञेयों से शून्य है और अशून्यनय से मनुष्यों से भरे हुए जहाज की भाँति ज्ञेयों से अशून्य है॥२२-२३॥

(२४-२५) ज्ञानज्ञेय अद्वैतनय और ज्ञानज्ञेय द्वैतनय

ज्ञानज्ञेयाद्वैतनयेन महदिन्धनभारपरिणतधूमकेतुवदेकम् ।।२४।।
ज्ञानज्ञेयद्वैतनयेन परप्रतिबिंबसंपृक्तदर्पणवदनेकम् ।।२५।।

शून्यनय और अशून्यनय की चर्चा के उपरान्त अब ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय और ज्ञानज्ञेय-द्वैतनय की चर्चा करते हैं –

आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय से महान ईंधनसमूहरूप परिणत अग्नि की भाँति एक है और ज्ञानज्ञेयद्वैतनय से पर के प्रतिबिम्बों से संपृक्त दर्पण की भाँति अनेक है ।।२५।।''

सर्वगत और असर्वगतनय से ज्ञान-ज्ञेय प्रकरण ही चल रहा है। वस्तुतः बात यह है कि भगवान आत्मा का परपदार्थों के साथ ज्ञान-ज्ञेय संबंध के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध तो है ही नहीं, इस ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध की भी क्या स्थिति है - इस बात को ही इन नयों के माध्यम से स्पष्ट किया जा रहा है।

सर्वगत और असर्वगत नयों के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया था कि यह भगवान आत्मा अपने प्रदेशों में सीमित रहकर भी सम्पूर्ण लोकालोक को जान सकता है; जानता है। सम्पूर्ण लोकालोक को जानने के कारण ही इसे सर्वगत कहा जाता है तथा अपने प्रदेशों के बाहर न जाने के कारण आत्मगत अथवा असर्वगत कहा जाता है।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि अपने प्रदेशों के बाहर नहीं जाकर भी जब यह भगवान आत्मा लोकालोक के सम्पूर्ण ज्ञेयों को जानता है तो फिर सम्पूर्ण लोकालोकरूप ज्ञेय ज्ञान में आते होंगे ? तो क्या यह भगवान आत्मा लोकालोकरूप सम्पूर्ण ज्ञेयों से भरा हुआ है ?

इसके उत्तर में शून्य और अशून्य नयों के माध्यम से यह बताया गया है कि किसी भी ज्ञेय पदार्थ ने ज्ञान में प्रवेश नहीं किया; अतः ज्ञान ज्ञेयों से शून्य ही है, खाली ही है; तथापि वे ज्ञेय ज्ञान में ज्ञात अवश्य हुए

हैं, यदि ज्ञात होने को ही आना कहें तो ज्ञान ज्ञेयों से अशून्य है, भरा हुआ है। ज्ञेयों से शून्य कहने से कोई यह न मान ले कि वह ज्ञेयों को जानता ही नहीं; अत: यह कहा गया कि आत्मा ज्ञेयों से अशून्य है, भरा हुआ है। इसीप्रकार अशून्य अर्थात् भरा हुआ कहने से कोई यह न जान ले कि ज्ञेय ज्ञान में प्रविष्ट हो गये हैं, ज्ञान और ज्ञेय एकमेक हो गये हैं; इसलिए यह कहा गया कि आत्मा ज्ञेयों से शून्य है, खाली है।

सर्वगत, असर्वगत, शून्य एवं अशून्य नयों के माध्यम से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह भगवान आत्मा ज्ञेयों को जानता तो है; पर उनमें जाता नहीं, उनमें प्रवेश नहीं करता। इसीप्रकार ज्ञेय ज्ञान द्वारा जाने तो जाते हैं, पर वे ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते। ज्ञान ज्ञान में रहता है और ज्ञेय ज्ञेय में रहते हैं; दोनों के अपने में सीमित रहने पर भी ज्ञान द्वारा ज्ञेय जाने जाते हैं।

इसी वस्तुस्थिति को ये नय इसप्रकार व्यक्त करते हैं कि सब ज्ञेयों को जानने के कारण आत्मा सर्वगत है और ज्ञेयों में न जाने के कारण असर्वगत है तथा ज्ञान में ज्ञेयों के अप्रवेश के कारण आत्मा ज्ञेयों से शून्य है, खाली है और ज्ञेयों को जानने के कारण ज्ञेयों से अशून्य है, भरा हुआ है।

इतना जान लेने पर भी यह जिज्ञासा शेष रह जाती है कि ज्ञान में ज्ञात होते हुए ज्ञेय ज्ञान से भिन्न हैं या अभिन्न हैं; वे ज्ञेय ज्ञान से अद्वैत हैं, एकमेक हैं या द्वैत हैं, अनेक हैं ?

इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए यहाँ कहा जा रहा है कि ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय से ज्ञान में झलकते हुए ज्ञेयपदार्थ ज्ञान से अभिन्न हैं, अद्वैत हैं, एक हैं और ज्ञानज्ञेयद्वैतनय से ज्ञान में झलकते हुए ज्ञेयपदार्थ ज्ञान से भिन्न हैं, द्वैत हैं, अनेक हैं।

जिसप्रकार अनेक प्रकार के ईंधन को जलाती हुई अग्नि उस ईंधन से अभिन्न ही है, एक ही है, अद्वैत ही है; उसीप्रकार अनेक प्रकार के ज्ञेयों को जानता हुआ आत्मा उनसे अभिन्न ही है, एक ही है, अद्वैत ही

है - यही कहना है ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय का। यहाँ अभिन्न, एक एवं अद्वैत एकार्थवाची ही हैं।

वस्तुत: यहाँ यह कहना चाहते हैं कि जिसप्रकार जलता हुआ ईंधन अग्नि ही तो है, अग्नि के अतिरिक्त और क्या है ? उसीप्रकार जानने में आते हुए ज्ञेय ज्ञान ही तो हैं, ज्ञान के अतिरिक्त और क्या हैं?

तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार जलता हुआ ईंधन और अग्नि एक ही हैं, अभिन्न ही हैं, अद्वैत ही हैं; उसीप्रकार जानने में आते हुए ज्ञेय और ज्ञान एक ही हैं, अभिन्न ही हैं, अद्वैत ही हैं।

ज्ञानज्ञेयद्वैतयन का कहना यह है कि जिसप्रकार पदार्थों के प्रतिबिम्बों से संपृक्त दर्पण उन प्रतिबिम्बित पदार्थों से भिन्न ही है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा ज्ञान में झलकते ज्ञेयों से भिन्न ही है।

जिसप्रकार प्रतिबिम्बित पदार्थों से दर्पण की यह भिन्नता ही द्वैतता है, अनेकता है; उसीप्रकार ज्ञान में झलकते ज्ञेयों से भगवान आत्मा की यह भिन्नता ही द्वैतता है, अनेकता है।

इसप्रकार यह भगवान आत्मा ज्ञान में झलकते ज्ञेयों से भिन्न भी है और अभिन्न भी है, एक भी है और अनेक भी है, अद्वैत भी है और द्वैत भी है। तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक ज्ञानज्ञेय-अद्वैतधर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा अपने ज्ञान में झलकनेवाले ज्ञेयों से अभिन्न (अद्वैत) भासित होता है तथा एक ज्ञानज्ञेयद्वैतधर्म भी है, जिसके कारण यह आत्मा अपने ज्ञान में झलकने वाले ज्ञेयों से भिन्न (द्वैत) भासित होता है।

इन ज्ञानज्ञेय-अद्वैत एवं ज्ञानज्ञेयद्वैत धर्मों को विषय बनानेवाले नय ही ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय और ज्ञानज्ञेयद्वैतनय हैं।

इसप्रकार सर्वगत, असर्वगत, शून्य, अशून्य, ज्ञानज्ञेय-अद्वैत तथा ज्ञानज्ञेयद्वैतनयों के माध्यम से आत्मा का परपदार्थों के साथ जो ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध है; उसका स्वरूप भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है।

(२६-२७) नियतिनय और अनियतिनय

नियतिनयेन नियमितौष्ण्यवह्निवन्नियतस्वभावभासि ।।२६।।
अनियतिनयेन नियत्यनियमितौष्ण्यपानीयवदनियतस्वभावभासि ।।२७।।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि यह भगवान आत्मा ज्ञेयों को जानता तो है, पर न तो ज्ञान ज्ञेयों में जाता है और न ज्ञेय ज्ञान में ही आते हैं। दोनों अपने-अपने स्वभाव में सीमित रहने पर भी ज्ञान जानता है और ज्ञेय जानने में आते हैं। ज्ञाता भगवान आत्मा और ज्ञेय लोकालोकरूप सर्व पदार्थों का यही स्वभाव है।

ज्ञाता भगवान आत्मा के उक्त स्वभाव का प्रतिपादन करना ही उक्त छह नयों का प्रयोजन है। ज्ञेयों को सहजभाव से जानना भगवान आत्मा का सहज स्वभाव है। अतः न तो हमें परपदार्थों को जानने की आकुलता ही करना चाहिए और न नहीं जानने का हठ ही करना चाहिए; **पर्यायगत योग्यतानुसार जो ज्ञेय ज्ञान में सहजभाव से ज्ञात हो जावें, उन्हें वीतराग भाव से जान लेना ही उचित है; अन्य कुछ विकल्प करना उचित नहीं है; आकुलता का कारण है। आत्मा के इस सहजज्ञानस्वभाव को ही ये छह नय अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं।**

उक्त छह नयों की चर्चा के उपरान्त अब नियतिनय और अनियतिनय की चर्चा करते हैं –

"आत्मद्रव्य नियतिनय से, जिसकी उष्णता नियमित (नियत) होती है – ऐसी अग्नि की भाँति नियतस्वभावरूप भासित होता है और अनियतिनय से, जिसकी उष्णता नियति (नियम) से नियमित नहीं है – ऐसे पानी की भाँति अनियतस्वभावरूप भासित होता है।"

जिसप्रकार उष्णता अग्नि का नियतस्वभाव है; उसीप्रकार भगवान आत्मा का चैतन्यभाव - ज्ञानानन्दस्वभाव नियतस्वभाव है और जिसप्रकार उष्णता पानी का अनियतस्वभाव है; उसीप्रकार राग-द्वेष-मोहरूप अथवा मतिज्ञानादिरूप परिणत होना आत्मा का अनियत

स्वभाव है। त्रिकाल एकरूप रहनेवाले स्वभाव को नियतस्वभाव कहते हैं और परिवर्तनशील स्वभाव को अनियतस्वभाव कहा जाता है।

उष्णता अग्नि का त्रिकाल एकरूप रहनेवाला स्वभाव है; अतः वह उसका नियतस्वभाव है। इसीप्रकार चैतन्यभाव-ज्ञानानन्दस्वभाव-जानना-देखना भगवान आत्मा का त्रिकाल एकरूप रहनेवाला स्वभाव है, इसलिए वह भगवान आत्मा का नियतस्वभाव है।

नियत अर्थात् निश्चित, कभी न बदलनेवाला, सदा एकरूप रहनेवाला और अनियत अर्थात् अनिश्चित, निरन्तर परिवर्तनशील।

पानी का नियतस्वभाव तो शीतलता ही है, पर अग्नि के संयोग में आने पर गर्म भी हो जाता है। यह गर्म होना यद्यपि उसका नियतस्वभाव नहीं है, तथापि उसका वह स्वभाव ही न हो - ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि उसके स्वभाव में यदि गर्म होना होता ही नहीं तो वह अग्नि के संयोग में भी गर्म नहीं होता। अग्नि के संयोग में गर्म होना भी उसके स्वभाव का ही अंग है। उसके इस स्वभाव का नाम ही अनियतस्वभाव है, परिवर्तनशील स्वभाव है, पर्यायस्वभाव है।

अग्नि का गर्म होना उसका द्रव्यगत स्वभाव है; अतः नियतस्वभाव है और पानी का गर्म होना उसका पर्यायगत स्वभाव है; अतः अनियत स्वभाव है। **इसीप्रकार भगवान आत्मा का नियतस्वभाव तो चैतन्यभाव ही है, जानना-देखना ही है; पर वह कर्मादिक के योग में रागादिरूप या मतिज्ञानादिरूप या मनुष्यादिरूप भी परिणत हो जाता है। रागादिरूप परिणमित होना भगवान आत्मा का नियतस्वभाव नहीं है; तथापि उसका वह स्वभाव ही न हो - ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि उसके स्वभाव में यदि राग-द्वेष-मोहरूप परिणमित होना होता ही नहीं तो कर्मादिक के योग में भी वह रागादिरूप परिणमित नहीं होता। अतः कर्मादिक के योग-वियोग में रागादिरूप या मतिज्ञानादिरूप परिणमित होना भी उसके स्वभाव का ही अंग है। भगवान आत्मा के इस स्वभाव का नाम अनियतस्वभाव है, परिवर्तनशील स्वभाव है, पर्यायस्वभाव है।**

भगवान आत्मा का चैतन्यभावमय होना, ज्ञानानंदस्वभावरूप होना द्रव्यगत स्वभाव है; अत: नियतस्वभाव है और राग-द्वेष-मोहरूप होना, मतिज्ञानादिरूप होना पर्यायगत स्वभाव है; अत: अनियतस्वभाव है।

एकमात्र परमपारिणामिक भाव आत्मा का नियतस्वभाव है, शेष सभी भाव – औपशमिक, क्षायिक, क्षायोमशमिक एवं औदयिक भाव - आत्मा के अनियतस्वभाव हैं; क्योंकि परमपारिणामिक भाव को छोड़कर शेष कोई भी भाव त्रिकाल एकरूप नहीं रहते।

भगवान आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेष व मनुष्यादि औदयिकभाव, मतिज्ञानादि क्षयोपशमभाव, केवलज्ञानादि क्षायिकभाव सदा एक से नहीं रहते; कभी राग होता है, कभी द्वेष होता है; कभी राग मंद होता है, कभी तीव्र होता है; कभी आत्मा मनुष्यपर्यायरूप होता है, कभी देवपर्यायरूप होता है; कभी मतिज्ञानी होता है, कभी केवलज्ञानी होता है - यह सब भगवान आत्मा के अनियतस्वभाव के कारण ही होता है। नियतस्वभाव के कारण भगवान आत्मा सदा एकरूप रहता है, एक रहता है और अनियतस्वभाव के कारण सदा बदलता रहता है, परिवर्तनशील रहता है।

तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा का त्रिकालीस्वभाव नियतस्वभाव है और क्षणिकस्वभाव अनियतस्वभाव है। कभी न बदलनेवाला स्वभाव नियतस्वभाव है और प्रतिसमय बदलनेवाला स्वभाव अनियतस्वभाव है।

सभी पदार्थों के समान भगवान आत्मा भी प्रतिसमय बदलकर कभी नहीं बदलता है और कभी नहीं बदलकर भी प्रतिसमय बदलता रहता है। भगवान आत्मा की इन दोनों विशेषताओं को स्पष्ट करना ही नियतिनय और अनियतिनय का मूल प्रयोजन है।

भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक नियति नामक धर्म भी है और एक अनियति नामक धर्म भी है। नियति नामक धर्म के कारण भगवान आत्मा सदा चैतन्यरूप रहता है, जड़रूप नहीं होता

(२८-२९) स्वभावनय और अस्वभावनय

स्वभावनयेनानिशिततीक्ष्णकण्टकवत्संस्कारानर्थक्यकारि।।२८।।
अस्वभावनयेनायस्कारनिशिततीक्ष्णविशिखवत्संस्कारसार्थक्यकारि।।२९।।

और अनियति नामक धर्म के कारण जड़रूप नहीं होकर भी चिद्विवर्तों में निरन्तर बदलता रहता है।

भगवान आत्मा के इन नियतिधर्म और अनियतिधर्मों को विषय बनानेवाले नय ही क्रमश: नियतिनय और अनियतिनय हैं।

ध्यान रहे कि इन नियतिनय और अनियति नयों का पर्यायों की क्रमबद्धता और अक्रमबद्धता से कोई सम्बन्ध नहीं है ।।२६-२७।।

नियतिनय और अनियतिनय की चर्चा के उपरान्त अब स्वभावनय और अस्वभावनय की चर्चा करते हैं –

"आत्मद्रव्य स्वभावनय से, जिसकी किसी के द्वारा नोक नहीं निकाली जाती, ऐसे पैने काँटे की भाँति संस्कारों को निरर्थक करनेवाला है और अस्वभावनय से, जिसकी नोक लुहार के द्वारा संस्कार करके निकाली गई है, ऐसे पैने बाण की भाँति, संस्कार को सार्थक करनेवाला है।।२८-२९।।"

नियतिनय और अनियतिनय के माध्यम से आत्मा के त्रिकाल एकरूप रहनेवाले नियतस्वभाव एवं नित्य परिवर्तनशील अनियतस्वभाव का दिग्दर्शन करने के उपरान्त अब स्वभावनय और अस्वभावनय के माध्यम से यह बताया जा रहा है कि **आत्मा के नियतस्वभाव को संस्कारों द्वारा बदलना संभव नहीं है, पर अनियतस्वभाव को संस्कारित किया जा सकता है।**

जिसप्रकार भगवान आत्मा का स्वभाव अग्नि की उष्णता के समान नियत भी है और पानी की उष्णता के समान अनियत भी है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा स्वभावनय से स्वाभाविक नोकवाले काँटे के समान संस्कारों को निरर्थक करनेवाला भी है और अस्वभावनय से बनाई गई बाण की नोक की भाँति संस्कारों को सार्थक करनेवाला भी है।

यहाँ स्वभावनय और अस्वभावनय को स्वाभाविक नोकवाले काँटे और कृत्रिम नोकवाले बाण के उदाहरण से समझाया जा रहा है।

जिसप्रकार काँटे की नोक किसी ने बनाई नहीं है, असंस्कारित है, अकृत्रिम है, काँटे का मूल स्वभाव है; उसीप्रकार भगवान आत्मा का मूल स्वभाव असंस्कारित है, अकृत्रिम है, किसी का बनाया हुआ नहीं है; उसमें किसी भी प्रकार का संस्कार संभव नहीं है। अत: वह भगवान आत्मा स्वभावनय से संस्कारों को निरर्थक करनेवाला कहा गया है।

तथा जिसप्रकार बाण की नोक लुहार द्वारा बनाई गई है; अत: संस्कारित है, कृत्रिम है; उसीप्रकार भगवान आत्मा के पर्यायस्वभाव में संस्कार किया जा सकता हैं; अत: अस्वभावनय से भगवान आत्मा संस्कारों को सार्थक करनेवाला कहा गया है।

भगवान आत्मा में स्वभाव नामक एक ऐसा धर्म है, जिसके कारण भगवान आत्मा के द्रव्यस्वभाव को, मूलस्वभाव को अच्छे-बुरे संस्कारों द्वारा संस्कारित नहीं किया जा सकता। आत्मा के इस स्वभाव नामक धर्म को विषय बनानेवाले नय का नाम स्वभावनय है।

जिसप्रकार भगवान आत्मा में एक स्वभाव नामक धर्म है और उसके कारण द्रव्यस्वभाव को संस्कारित किया जाना संभव नहीं है; उसीप्रकार भगवान आत्मा में एक अस्वभाव नामक धर्म भी है, जिसके कारण आत्मा के पर्यायस्वभाव को संस्कारित किया जा सकता है। आत्मा के इस अस्वभाव नामक धर्म को विषय बनानेवाले नय का नाम अस्वभावनय है।

जिस वस्तु का जो मूलस्वभाव होता है, उसमें संस्कारों द्वारा किसी भी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है। करोड़ों उपाय करने पर भी जिसप्रकार अग्नि के उष्णस्वभाव में परिवर्तन किया जाना संभव नहीं है; उसीप्रकार भगवान आत्मा के चेतनस्वभाव में, ज्ञानानन्दस्वभाव में संस्कारों द्वारा किसी भी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है।

तात्पर्य यह है कि वह किसी भी स्थिति में अचेतन नहीं हो सकता।

(३०-३१) कालनय और अकालनय

कालनयेन निदाघदिवसानुसारिपच्यमानसहकारफलवत्समयायत्त-सिद्धिः ॥३०॥ अकालनयेन कृत्रिमोष्मपच्यमानसहकारफलवत्समया-नायत्तसिद्धिः ॥३१॥

इसे ही और अधिक स्पष्ट करें तो यह भी कह सकते हैं कि करोड़ों वर्ष तप करने पर भी अभव्य भव्य नहीं हो जाता; इसीप्रकार अनन्तकाल तक अनन्तमिथ्यात्वादि का सेवन करते रहने पर भी कोई भव्य अभव्य नहीं हो जाता; क्योंकि स्वभावनय से आत्मा संस्कारों को निरर्थक करनेवाला है; तथापि मिथ्यादृष्टी, सम्यग्दृष्टी हो सकता है; सम्यग्दृष्टी, मिथ्यादृष्टी भी हो सकता है; क्योंकि अस्वभावनय से भगवान आत्मा के पर्यायस्वभाव को, अनियतस्वभाव को संस्कारित किया जाना संभव है।

यदि भगवान आत्मा में अस्वभाव नामक धर्म नहीं होता तो फिर उसके पर्यायस्वभाव में भी संस्कार डालना संभव नहीं होता, मिथ्यात्व का अभाव कर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का अवसर भी नहीं रहता; इसप्रकार अनन्त काल से अनन्त दु:खी जीवों को अपने अनन्त दु:खों को मेटने का अवसर ही प्राप्त न होता। यह अस्वभाव नामक धर्म भी आत्मा का एक स्वभाव ही है। इसके कारण ही अनादिकालीन कुसंस्कारों का अभाव होकर सुसंस्कार पड़ते हैं। इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि यह भगवान आत्मा स्वभावनय से संस्कारों को निरर्थक करनेवाला है और अस्वभावनय से संस्कारों को सार्थक करनेवाला है ॥२८-२९॥

स्वभावनय और अस्वभावनय की चर्चा के उपरान्त अब कालनय और अकालनय की चर्चा करते हैं –

"आत्मद्रव्य कालनय से गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले आम्र-फल के समान समय पर आधार रखनेवाली सिद्धिवाला है और अकालनय से कृत्रिम गर्मी से पकाये गये आम्रफल के समान समय पर आधार नहीं रखने वाली सिद्धिवाला है ॥३०-३१॥"

'यद्यपि आत्मा के मूलस्वभाव को संस्कारित नहीं किया जा सकता है; तथापि पर्यायस्वभाव को संस्कारित कर मुक्ति प्राप्त की जा सकती है' - यह बात स्वभावनय और अस्वभावनय के माध्यम से स्पष्ट हो जाने पर **यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अस्वभावधर्म के कारण संस्कार को सार्थक करनेवाले इस आत्मा की सिद्धि किसप्रकार होती है ?**

- इस प्रश्न का उत्तर ही अब कालनय-अकालनय एवं पुरुषकार नय-दैवनय के माध्यम से दिया जा रहा है।

जिसप्रकार अकृत्रिम गर्मी से पकनेवाला डलपक (डाली पर पकनेवाला) आम पकनेरूप कार्य की सिद्धि के लिए काल पर आधारित है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा अपनी मुक्तिरूप सिद्धि के लिए कालनय से काल पर आधारित है तथा जिसप्रकार कृत्रिम गर्मी देकर पाल में पकाये जानेवाला आम अपने पकनेरूप कार्य की सिद्धि के लिए काल पर आधारित नहीं है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा अपनी मुक्तिरूप सिद्धि के लिए अकालनय से काल पर आधारित नहीं है।

भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक काल नामक धर्म भी है और एक अकाल नामक धर्म भी है। आत्मा के इन काल और अकाल नामक धर्मों को विषय बनानेवाले नय ही क्रमशः कालनय और अकालनय हैं।

प्रश्न - कालनय से तो काल आने पर ही मुक्ति होती है; पर अकालनय से तो समय के पूर्व ही मुक्ति हो जाती है न ? क्या इसका अर्थ यह नहीं हो सकता है कि पुरुषार्थहीनों के कार्य तो काल आने पर ही होते हैं, पर पुरुषार्थी जीव तो अपने पुरुषार्थ द्वारा समय से पहले ही कार्यसिद्धि कर लेते हैं।

उत्तर - नहीं, ऐसा कदापि नहीं होता। कार्य तो सभी स्वकाल में ही होते हैं। अन्य अनन्त धर्मों के समान कालधर्म और अकालधर्म भी सभी आत्माओं में समानरूप से एकसाथ विद्यमान हैं। ऐसा नहीं है कि किसी में कालधर्म हो और किसी में अकालधर्म।

मुक्तिरूपी कार्य भी सभी जीवों के स्वसमयानुसार पुरुषार्थपूर्वक ही होता है। ऐसा कभी नहीं होता कि मुक्ति प्राप्त करने के लिए किसी को तो पुरुषार्थ करना पड़े और किसी को बिना पुरुषार्थ के ही मुक्ति हो जावे। ऐसा भी नहीं होता कि किसी की मुक्ति तो काल आने पर ही हो और किसी की अकाल में ही हो जावे। जितने भी जीवों की मुक्ति आज तक हुई है या भविष्य में होगी, सभी की मुक्ति आवश्यक पुरुषार्थपूर्वक स्वकाल में ही हुई है और होगी भी पुरुषार्थपूर्वक स्वकाल में ही।

कालधर्म और अकालधर्म प्रत्येक आत्मा में प्रतिसमय विद्यमान हैं और उनके कार्य भी एकसाथ ही होते हैं। अत: मुक्तिरूपी कार्य में कालनय और अकालनय एक ही आत्मा में एकसाथ घटित होते हैं।

'काल माने समय पर और अकाल माने समय से पहले' - यहाँ काल और अकाल का यह अर्थ अभीष्ट नहीं है, अपितु 'काल माने काललब्धिरूप कारण और अकाल माने काललब्धि के अतिरिक्त अन्य पुरुषार्थादिकारण' - यह अर्थ अभीष्ट है।

यहाँ दिये गये अकृत्रिम गर्मी से पकनेवाले आम एवं कृत्रिम गर्मी से पकनेवाले आम के उदाहरण से भी यही बात सिद्ध होती है; क्योंकि यहाँ अकृत्रिमगर्मी से पकनेवाले आम के पकाव को काल पर आधारित कहा गया है और कृत्रिम गर्मी से पकनेवाले आम के पकाव को अकाल अर्थात् पुरुषार्थादि पर आधारित कहा गया है।

यहाँ यह कदापि अभीष्ट नहीं है कि अकृत्रिम गर्मी से पकनेवाला आम तो समय पर ही पकता है; परन्तु कृत्रिम गर्मी से पकनेवाला आम समय से पहले ही पक जाता है। पकते तो दोनों सुनिश्चित स्वकाल में ही हैं तथा दोनों पकते भी गर्मी के कारण ही हैं। दोनों में से कोई भी आम न तो असमय में ही पकता है और न बिना गर्मी के ही पकता है। अत: दोनों में दोनों ही कारण समान रूप से विद्यमान हैं।

यद्यपि दोनों में ही दोनों कारण समान रूप से विद्यमान हैं; तथापि

(३२-३३) पुरुषाकारनय और दैवनय

पुरुषकारनयेन पुरुषकारोपलब्धमधुकुक्कुटीकपुरुषकारवादिवद्यत्नसाध्यसिद्धिः ।।३२।। दैवनयेन पुरुषकारवादिदत्तमधुकुक्कुटीगर्भलब्धमाणिक्यदैववादिवदयत्नसाध्यसिद्धिः ।।३३।।

जब कालनय से कथन करेंगे, तब काल की मुख्यता से बात कही जायगी और जब अकालनय से कथन करेंगे, तब अकाल अर्थात् अन्य पुरुषार्थादि कारणों की मुख्यता से बात कही जायगी।

इसीप्रकार आत्मा की सिद्धि अर्थात् मुक्तिरूपी कार्य पर भी घटित कर लेना चाहिए। मुक्तिरूपी कार्य होता तो पुरुषार्थादि कारणों के साथ समय पर ही है; न तो बिना पुरुषार्थ के होता है और न असमय में ही; पर जब कालनय से बात कही जाती है तो यह कहा जाता है कि कालनय से यह भगवान आत्मा काल पर आधार रखनेवाली सिद्धिवाला है और जब अकालनय से कथन किया जाता है तो यह कहा जाता है कि यह भगवान आत्मा अकाल पर आधार रखनेवाली सिद्धिवाला है अथवा काल पर आधार नहीं रखनेवाली सिद्धिवाला है अथवा पुरुषार्थादि कारणों पर आधार रखनेवाली सिद्धिवाला है।।३०-३१।।

इसप्रकार कालनय और अकालनय की चर्चा के उपरान्त अब पुरुषकारनय और दैवनय की चर्चा करते हैं –

आत्मद्रव्य पुरुषकारनय से, जिसे पुरुषार्थ द्वारा नीबू का वृक्ष या मधुछत्ता प्राप्त होता है, ऐसे पुरुषार्थवादी के समान यत्नसाध्य सिद्धिवाला है और दैवनय से, जिसे पुरुषार्थवादी द्वारा नीबू का वृक्ष या मधुछत्ता प्राप्त हुआ है और उसमें से जिसे बिना प्रयत्न के ही अचानक माणिक्य प्राप्त हो गया है, ऐसे दैववादी के समान अयत्नसाध्य सिद्धिवाला है।।३२-३३।।"

'इस भगवान आत्मा की दुःखों से मुक्ति यत्नसाध्य है या अयत्न साध्य?' - इस प्रश्न का उत्तर यहाँ पुरुषकारनय और दैवनय के माध्यम से दिया जा रहा है।

यहाँ पुरुषकारनय और दैवनय को पुरुषार्थवादी और दैववादी के उदाहरण से स्पष्ट किया गया है।

किसी पुरुषार्थवादी व्यक्ति ने बड़े यत्न से नीबू के पेड़ उगाये या मधुछत्तों का संग्रह किया। उन पेड़ों से या उन मधुछत्तों में से एक पेड़ या एक मधुछत्ता उसने अपने मित्र दैववादी (भाग्यवादी) को दे दिया। सद्भाग्य से इस दैववादी (भाग्यवादी) को उस नीबू के पेड़ में या मधुछत्ते में एक बहुमूल्य माणिक्य की भी प्राप्ति हो गई।

उक्त घटना को उदाहरण बनाकर यहाँ स्पष्ट किया जा रहा है कि जिसप्रकार पुरुषार्थवादी को तो नीबू के पेड़ों या मधुछत्तों की प्राप्ति बड़े प्रयत्न से हुई है, किन्तु दैववादी को बिना ही प्रयत्न के नीबू का पेड़ और मधुछत्ते के साथ-साथ बहुमूल्य माणिक्य की भी प्राप्ति हो गई; उसीप्रकार यह आत्मद्रव्य पुरुषकारनय से यत्नसाध्य सिद्धिवाला है और दैवनय से अयत्नसाध्य सिद्धिवाला है। इसप्रकार इस भगवान आत्मा की सिद्धि यत्नसाध्य भी है और अयत्नसाध्य भी है।

अनन्तधर्मात्मक इस भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक पुरुषकार अथवा पुरुषार्थ नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह आत्मा यत्नसाध्य सिद्धिवाला है अर्थात् पुरुषार्थ से सिद्धि प्राप्त करनेवाला है और इस भगवान आत्मा में एक दैव नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह आत्मा अयत्नसाध्य सिद्धिवाला है।

ये दोनों धर्म भगवान आत्मा में एकसाथ रहते हैं; अतः वह एकसाथ ही यत्नसाध्य सिद्धिवाला और अयत्नसाध्य सिद्धिवाला है। ऐसा नहीं है कि कभी यत्नसाध्य सिद्धिवाला हो और कभी अयत्नसाध्य सिद्धिवाला। ऐसा भी नहीं है कि कोई आत्मा यत्नसाध्य सिद्धिवाला हो और कोई आत्मा अयत्नसाध्य सिद्धिवाला हो; क्योंकि ये दोनों धर्म एकसाथ ही प्रत्येक आत्मा में रहते हैं। अतः इन्हें एक ही आत्मा में एकसाथ ही घटित होना चाहिए।

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि जब मुक्तिरूपी कार्य सम्पन्न होता है, तब वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्मसन्मुखता के पुरुषार्थपूर्वक ही होता है और उस समय कर्मों का अभाव भी नियम से होता ही है। इसप्रकार उक्त मुक्तिरूपी कार्य की सिद्धि में आत्मा के पुरुषार्थ नामक धर्म का भी योगदान है और दैव नामक धर्म का भी योगदान है।

प्रत्येक व्यक्ति के मुक्तिरूपी कार्य की सिद्धि की वास्तविक स्थिति तो यही है। इसे ही पुरुषकारनय और दैवनय की भाषा में इसप्रकार व्यक्त करते हैं कि यह भगवान आत्मा पुरुषकारनय से यत्नसाध्य सिद्धिवाला है और दैवनय से अयत्नसाध्य सिद्धिवाला है।

इसप्रकार नियतिनय-अनियतिनय, स्वभावनय-अस्वभावनय, कालनय-अकालनय एवं पुरुषकारनय - दैवनय-इन आठ नयों के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि मुक्तिरूपी कार्य की सिद्धि में आत्मा के नियतधर्म-अनियतधर्म, स्वभावधर्म-अस्वभावधर्म, कालधर्म-अकालधर्म एवं पुरुषकारधर्म-दैवधर्म - इन सभी धर्मों का समान योगदान है। प्रकारान्तर से यह कार्यसिद्धि में पंचसमवायों की उपयोगिता का ही विशद व्याख्यान है; क्योंकि उक्त आठ नयों में प्रकारान्तर से स्वभाव, काल, भवितव्य, पुरुषार्थ और निमित्त - ये पाँचों समवाय समाहित हो जाते हैं। जब कार्य होता है, तब ये पाँचों ही समवाय नियम से होते ही हैं और उसमें उक्त आठ नयों के विषयभूत आत्मा के आठ धर्मों का योगदान भी समान रूप से होता ही है। तात्पर्य यह है कि आत्मा की सिद्धि के सम्पूर्ण साधन आत्मा में ही विद्यमान हैं; उसे अपनी सिद्धि के लिए यहाँ-वहाँ झाँकने की या भटकने की आवश्यकता नहीं है।

वस्तुस्थिति यह है कि जब परमपारिणामिक भावरूप नियतस्वभाव के आश्रय से यह भगवान आत्मा अपने पर्यायरूप अनियतस्वभाव को संस्कारित करता है; तब स्वकाल में कर्मों का अभाव होकर मुक्ति की

(३४-३५) ईश्वरनय और अनीश्वरनय

ईश्वरनयेन धात्रीहटावलेह्यमानपान्थबालकवत्पारतन्त्र्यभोक्तृ।।३४।।
अनीश्वरनयेन स्वच्छन्ददारितकुरङ्गकण्डीरववत्स्वातन्त्र्यभोक्तृ।।३५।।

प्राप्ति होती ही है। तात्पर्य यह है कि परमपारिणामिक भावरूप त्रिकाली ध्रुव आत्मा को केन्द्र बनाकर जब श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र परिणमित होते हैं; तब ज्ञानावरणादि कर्मों का अभाव होकर अनन्तसुखस्वरूप सिद्धदशा प्रगट हो जाती है और इसमें ही उक्त आठ धर्म या आठ नय व पंच समवाय समाहित हो जाते हैं।।३२-३३।।

इसप्रकार पुरुषकारनय और दैवनय की चर्चा करने के उपरान्त अब ईश्वरनय और अनीश्वरनय की चर्चा करते हैं –

"आत्मद्रव्य ईश्वरनय से धाय की दुकान पर दूध पिलाये जानेवाले राहगीर के बालक के समान परतंत्रता को भोगनेवाला है और अनीश्वरनय से हिरण को स्वच्छन्दतापूर्वक फाड़कर खा जाने वाले सिंह के समान स्वतंत्रता को भोगनेवाला है।।३४-३५।।"

मातृहीन बालकों को अपना दूध पिलाकर आजीविका करनेवाली महिलाओं को धायमाता कहा जाता है। पुराने समय में ऐसी अनेक धायमातायें गाँव-गाँव में दुकान खोलकर बैठती थीं। जिन माताओं के दूध कम होता था, वे मातायें अपने बालकों को या मातृहीन बालकों को उनके परिवारवाले लोग ऐसी धायमाताओं की दुकान पर ले जाकर यथासमय दूध पिला लाते थे।

ऐसे मातृहीन बालक या कम दूधवाली माताओं के बालक जब अपने परिवारवालों के साथ यात्रा पर जा रहे हों, तो उन्हें भूख मिटाने के लिए रास्ते में आनेवाले गाँवों में होनेवाली धायमाताओं की दुकानों पर निर्भर रहना पड़ता था, जिसमें उन्हें भारी पराधीनता रहती थी।

प्रथम तो अपनी माता का दूध पीने जैसी स्वतन्त्रता धायमाता के दूध

पर निर्भर रहने में संभव नहीं है; क्योंकि स्वयं की माता जैसा स्वाभाविक स्नेह एवं चाहे जब दूध पीने की सुविधा धायमाता के यहाँ कैसे प्राप्त हो सकती है ? वह तो अपने बालक की आवश्यकता की पूर्ति के उपरान्त शेष बचे दूध को ही, एक निश्चित समय पर ही, किसी दूसरे बालक को पिला सकती है। दूसरे, दुकान पर जाकर पीना भी तो सुविधाजनक नहीं होता। तीसरे, बालक यदि पथिक का हो तो वह परतन्त्रता और भी अधिक बढ़ जाती है; क्योंकि भूखे बालक को हर स्थान पर धाय की दुकान मिल जाना सहज संभव तो नहीं है।

इसप्रकार आचार्यदेव ने धायमाता की दुकान पर दूध पिलाये जानेवाले पथिक के बालक का उदाहरण देकर परतन्त्रता के स्वरूप को बहुत अच्छी तरह से स्पष्ट कर दिया है।

इस भगवान आत्मा को भी संसार-अवस्था में इसीप्रकार की परतन्त्रता का उपभोग करना पड़ता है। यद्यपि इस परतन्त्रता में कर्मोदय निमित्त होता है; तथापि पर के कारण ही आत्मा को परतन्त्रता भोगनी पड़ती हो - ऐसी बात नहीं है; क्योंकि भगवान आत्मा के पर्याय स्वभाव में ही ऐसी विशेषता पड़ी है कि वह स्वयं कर्माधीन होकर मोह-राग-द्वेषरूप परिणमित होता है और परतन्त्रता को भोगता है।

भगवान आत्मा की इस विशेषता का नाम ही ईश्वरधर्म है और इस ईश्वरधर्म को विषय बनानेवाले नय का नाम ईश्वरनय है। अत: कहा गया है कि यह भगवान आत्मा ईश्वरनय से धाय की दुकान पर दूध पिलाये जानेवाले राहगीर के बालक के समान परतन्त्रता भोगने वाला है।

अनन्तधर्मात्मक इस भगवान आत्मा में ईश्वरधर्म के समान एक अनीश्वर नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा हिरण को स्वच्छन्दतापूर्वक फाड़कर खा जानेवाले सिंह के समान स्वतंत्रता को भोगनेवाला है। इसी अनीश्वर नामक धर्म को विषय बनानेवाले नय को अनीश्वरनय कहते हैं।

ईश्वरनय को धाय की दुकान पर दूध पिलाये जाने वाले पथिक के बालक का उदाहरण देकर समझाया गया था और अब यहाँ हिरण को स्वच्छन्दतापूर्वक फाड़कर खा जानेवाले सिंह का उदाहरण देकर अनीश्वरनय को समझाया जा रहा है।

जिसप्रकार जंगल का राजा शेर जंगल में हिरण को फाड़कर अत्यन्त स्वच्छन्दतापूर्वक उसे खा रहा हो तो उस शेर को कौन रोकनेवाला है ?

उसीप्रकार यह चैतन्यराजा भगवान आत्मा अपने असंख्यप्रदेशी स्वराज्य में अपने आत्मोन्मुखी सम्यक् पुरुषार्थ से अन्तर्स्वरूप में एकाग्र होकर अत्यन्त स्वतन्त्रतापूर्वक अपने अतीन्द्रिय आनन्द का उपभोग करें तो उसे कौन रोकनेवाला है ?

इसी तथ्य का उद्घाटन इस अनीश्वरनय द्वारा किया जाता है।

अनीश्वर अर्थात् जिसका कोई अन्य ईश्वर न हो। जो स्वयं ही अपना ईश्वर हो, उसे ही यहाँ अनीश्वर कहा है। अनीश्वरनय से इस भगवान आत्मा का कोई अन्य ईश्वर नहीं है, यह स्वयं ही अपना ईश्वर है; इसीलिए यह अनीश्वर है। यह अपने अतीन्द्रिय आनन्द को भोगने में पूर्णतः समर्थ है, स्वाधीन है, ईश्वर है।

ईश्वरनय से यह भगवान आत्मा पराधीनता को भोगनेवाला है और अनीश्वरनय से स्वाधीनता को भोगनेवाला है। इन दोनों नयों का ज्ञान भगवान आत्मा में एकसाथ विद्यमान रहता है। तात्पर्य यह है कि दोनों अपेक्षाएँ उसके प्रमाणज्ञान में समान रूप से प्रतिभासित होती रहती हैं। यद्यपि प्रतिपादन काल में मुख्य-गौण व्यवस्था होती है; तथापि भगवान आत्मा के प्रमाणज्ञान में तो सब-कुछ स्पष्ट रहता ही है।

यहाँ, अनीश्वरनय से तो भगवान आत्मा की स्वाधीनता सिद्ध की ही है, पर ईश्वरनय से भी एकप्रकार से स्वाधीनता ही सिद्ध की है; क्योंकि पराधीनता भोगने का धर्म भी उसके स्वभाव में ही विद्यमान

(३६-३७) गुणीनय और अगुणीनय

गुणिनयेनोपाध्यायविनीयमानकुमारकवद्गुणग्राहि ।।३६।। अगुणिनयेनोपाध्यायविनीयमानकुमारकाध्यक्षवत् केवलमेव साक्षि ।।३७।।

है। तात्पर्य यह है कि कर्म या अन्य निमित्त उसे पराधीन नहीं करते, अपितु वह स्वयं की भूल से ही पराधीन होता है, कर्माधीन होता है, पर का आश्रय लेकर उसे ईश्वरता प्रदान करता है और उसके अधीन होकर दुःख भोगता है।

यदि भगवान आत्मा के स्वभाव में ही इसप्रकार की विशेषता नहीं होती तो उसे कोई पराधीन नहीं कर सकता था। भगवान आत्मा के पर्याय में पराधीन होने के इस स्वभाव का नाम ही ईश्वरधर्म है और इसे जाननेवाला नय ईश्वरनय है।

ध्यान रहे, यह पराधीनता मात्र पर्यायस्वभाव तक ही सीमित है, द्रव्यस्वभाव में इसका प्रवेश नहीं है; क्योंकि द्रव्यस्वभाव तो सदा स्वाधीन ही रहता है। अपने इसी द्रव्यस्वभाव को ईश्वरता प्रदान कर यह भगवान आत्मा स्वाधीनता का उपभोग करता है। भगवान आत्मा के इस स्वाधीन स्वभाव का नाम ही अनीश्वरधर्म है और इसे विषय बनानेवाले नय का नाम अनीश्वरनय है।

इसीलिए यहाँ ईश्वरनय और अनीश्वरनय का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि आत्मद्रव्य ईश्वरनय से धाय की दूकान पर दूध पिलाये जानेवाले राहगीर के बालक के समान परतन्त्रता भोगनेवाला है और अनीश्वरनय से हिरण को स्वच्छन्तदापूर्वक फाड़कर खा जानेवाले सिंह के समान स्वतन्त्रता को भोगनेवाला है ।।३४-३५ ।।

इसप्रकार ईश्वरनय और अनीश्वरनय की चर्चा करने के उपरान्त अब गुणीनय और अगुणीनय की चर्चा करते हैं –

"आत्मद्रव्य गुणीनय से शिक्षक द्वारा शिक्षा प्राप्त करनेवाले कुमार के समान गुणग्राही है और अगुणीनय से शिक्षक के द्वारा शिक्षा प्राप्त करनेवाले कुमार को देखनेवाले प्रेक्षकपुरुष के समान केवल साक्षी है ।।३६-३७ ।।"

यहाँ भगवान आत्मा के गुणग्राहक स्वभाव एवं साक्षीभाव स्वभाव को शिक्षक से शिक्षा ग्रहण करते बालक और शिक्षक से शिक्षा ग्रहण करते बालक को वीतरागभाव से - अनासक्त भाव से - साक्षीभाव से देखनेवाले पुरुष के उदाहरणों से समझाया जा रहा है।

जिसप्रकार शिक्षक के द्वारा सिखाये जाने पर बालक भाषा आदि सीख लेता है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भी गुरु के उपदेश को ग्रहण कर ले - ऐसी शक्ति से सम्पन्न है। भगवान आत्मा की इसी शक्ति *का नाम गुणीधर्म है और आत्मा के इसी गुणी नामक धर्म को विषय* बनानेवाले नय का नाम गुणीनय है।

जिसप्रकार शिक्षा ग्रहण करते बालक को देखनेवाला पुरुष शिक्षा ग्रहण नहीं करता, अपितु मात्र साक्षीभाव से देखता ही रहता है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा पर से कुछ भी ग्रहण नहीं करता, मात्र उसे साक्षीभाव से जानता-देखता ही है। भगवान आत्मा की साक्षी भाव से जानने-देखने की इस शक्ति का नाम ही अगुणीधर्म है और इस अगुणी नामक धर्म को विषय बनानेवाले नय का नाम ही अगुणी-नय है।

तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा में एक ऐसा धर्म है कि जिसके कारण वह उपदेश ग्रहण करने में समर्थ है और एक ऐसा भी धर्म है कि जिसके कारण वह पर का उपदेश ग्रहण न करके मात्र उसे साक्षीभाव से जान लेता है। इन दोनों धर्मों के नाम ही क्रमशः गुणीधर्म और अगुणीधर्म हैं।

यदि भगवान आत्मा में गुणीधर्म न होता तो फिर देशनालब्धि संभव न होती, तीर्थंकर भगवान के उपदेश का लाभ भी भगवान आत्मा को प्राप्त नहीं हो पाता; क्योंकि जब वह उसे ग्रहण ही नहीं कर पाता तो लाभ कैसे होता ? इसीप्रकार यदि अगुणीधर्म नहीं होता तो फिर

(३८-३९) कर्तृनय और अकर्तृनय

कर्तृनयेन रञ्जकवद्रागादिपरिणामकर्तृ ।।३८।। अकर्तृनयेन स्वकर्मप्रवृत्तरञ्जकाध्यक्षवत्केवलमेव साक्षि ।।३९।।

इसे सभी उपदेशों को ग्रहण करना अनिवार्य हो जाता; क्योंकि साक्षीभाव से मात्र जान लेने की शक्ति का अभाव होने से किसी भी उपदेश से अलिप्त रह पाना संभव नहीं होता।

उक्त दोनों धर्मों के प्रतिपादन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस भगवान आत्मा में सदुपदेश को ग्रहण करने की शक्ति भी विद्यमान है और अवांछित उपदेश को साक्षीभाव से जानकर उसकी उपेक्षा करने की शक्ति भी विद्यमान है। इसप्रकार **यह भगवान आत्मा गुणग्राही भी है और अगुणग्राही अर्थात् साक्षीभाव से रहनेवाला भी है।**

गुणीधर्म और अगुणीधर्म - ये दोनों धर्म आत्मा के ही धर्म हैं; अतः गुणीनय और अगुणीनय दोनों नय आत्मा को ही बताते हैं।

अन्य नयों के समान इन दोनों नयों का उद्देश्य भी भगवान आत्मा का स्वरूप स्पष्ट करना ही है।

यहाँ अगुणीधर्म का अर्थ न तो दुर्गुणों का सद्भाव ही है और न सद्गुणों का अभाव ही, अपितु परोपदेश को साक्षीभाव से जान लेना मात्र है ।।३६-३७ ।।

इसप्रकार गुणीधर्म और अगुणीधर्म की चर्चा के उपरान्त अब कर्तृनय और अकर्तृनय की चर्चा करते हैं –

"आत्मद्रव्य कर्तृनय से रँगरेज के समान रागादि परिणामों का कर्त्ता है और अकर्तृनय से अपने कार्य में प्रवृत्त रँगरेज को देखनेवाले पुरुष की भाँति केवल साक्षी है।।३८-३९।।"

कपड़ा रँगने का काम करनेवाले पुरुष को रँगरेज कहा जाता है। एक रँगरेज कपड़ा रँग रहा हो और उसी समय कोई दूसरा पुरुष वहीं

खड़ा-खड़ा वीतराग भाव से उसे कपड़ा रँगते हुए देख रहा हो - ऐसी स्थिति में यदि कपड़ा अच्छा रँगा जाये तो रँगरेज को प्रसन्नता होती है और यदि अच्छा न रँगा जावे तो उसे खेद होता है; परन्तु वीतराग भाव से उसे देखनेवाले पुरुष को किसी भी स्थिति में न तो प्रसन्नता ही होती है और न खेद ही होता है; वह तो उसे साक्षीभाव से मात्र जानता-देखता ही रहता है।

उक्त स्थिति को उदाहरण बनाकर यहाँ कर्तृनय और अकर्तृनय समझाये जा रहे हैं।

जिसप्रकार रँगरेज कपड़ा रँगने की क्रिया का कर्त्ता है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा कर्तृनय से अपने में उत्पन्न रागादि परिणामों का कर्त्ता है, और जिसप्रकार कपड़ा रंगते हुए उस रँगरेज को वीतराग भाव से देखनेवाला अन्य पुरुष कपड़ा रंगने की क्रिया का कर्त्ता नहीं है, मात्र साक्षी ही है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा अकर्तृनय से अपने में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेषादि भावों का कर्त्ता नहीं है, केवल साक्षी ही है।

अनन्तधर्मात्मक इस भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक कर्तृ नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा अपने में उत्पन्न होनेवाले रागादिभावों का कर्त्ता होता है और एक अकर्तृ नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा अपने में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेषादि भावों का कर्त्ता न होकर मात्र ज्ञाता-द्रष्टा रहता है, साक्षी रहता है। भगवान आत्मा के इन कर्तृधर्म और अकर्तृधर्म को विषय बनानेवाले नयों को ही क्रमशः कर्तृनय और अकर्तृनय कहते हैं।

परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले ये दोनों ही धर्म भगवान आत्मा में एक साथ ही रहते हैं। स्थूल दृष्टि से देखने पर भले ही ये परस्पर विरोधी प्रतीत हों, पर इनके एक आत्मा में एकसाथ रहने में कोई विरोध नहीं है; क्योंकि अनेकान्तात्मक भगवान आत्मा का ऐसा ही स्वरूप है।

प्रश्न - पहले अगुणीनय से भी भगवान आत्मा को साक्षी बताया गया था और अब यहाँ अकर्तृनय में भी साक्षी बताया जा रहा है। इन दोनों साक्षीभावों में क्या अन्तर है ?

उत्तर - सम्पूर्ण जगत को साक्षीभाव से देखने-जानने के स्वभाववाला होने से भगवान आत्मा तो सम्पूर्ण जगत का ही साक्षी है; अतः यहाँ प्रकरणानुसार भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से भिन्न-भिन्न वस्तुओं का साक्षीपन बताया गया है। अगुणीनय में, प्राप्त होनेवाले उपदेश का साक्षीभाव बताया गया है और यहाँ अकर्तृनय में, अपने में उत्पन्न होनेवाले रागादिभावों का साक्षीभाव बताया जा रहा है और आगे चलकर अभोक्तृनय में, अपने में उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःख का साक्षीभाव बताया जायगा।

तात्पर्य यह है कि **अगुणीनय में गुणीनय के विपक्षरूप साक्षीभाव लिया गया है, अकर्तृनय में कर्तृनय के विपक्षरूप साक्षीभाव लिया गया है और अभोक्तृनय में भोक्तृनय के विपक्षरूप साक्षीभाव लिया गया है।**

इसे और अधिक स्पष्ट करें तो इसप्रकार कह सकते हैं कि यह भगवान आत्मा गुणीनय से गुणग्राही है अर्थात् उपदेश को ग्रहण करनेवाला है और अगुणीनय से गुणग्राही नहीं है, मात्र साक्षीभाव से देखने-जाननेवाला है; कर्तृनय से अपने आत्मा में उत्पन्न होनेवाले रागादि भावों का कर्त्ता है और अकर्तृनय से उनका कर्त्ता नहीं है, मात्र साक्षीभाव से देखने-जानने वाला है। इसीप्रकार भोक्तृनय से अपने में उत्पन्न सुख-दुःख का भोक्ता है और अभोक्तृनय से अपने में उत्पन्न सुख-दुःख का भी भोक्ता नहीं है, मात्र साक्षीभाव से जानने-देखने वाला है।

इसप्रकार अगुणीनय के साक्षीभाव में गुणग्राहित्व का निषेध है,

(४०-४१) भोक्तृनय और अभोक्तृनय

भोक्तृनयेन हिताहितान्नभोक्तृव्याधितवत्सुखदु:खादिभोक्तृ ।।४०।। अभोक्तृनयेन हिताहितान्नभोक्तृव्याधिताध्यक्षधन्वन्तरिचरवत् केवलमेव साक्षि ।।४१।।

अकर्तृनय के साक्षीभाव में रागादिभाव के कर्तृत्व का निषेध है और अभोक्तृनय के साक्षीभाव में सुख-दु:ख के भोक्तृत्व का निषेध है। इसप्रकार यहाँ गुणीनय-अगुणीनय, कर्तृनय-अकर्तृनय एवं भोक्तृनय-अभोक्तृनय - इन छह नयों के माध्यम से भगवान आत्मा के गुणग्राहित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं इन तीनों के विरुद्ध अगुणग्राहित्व रूप साक्षीभाव, अकर्तृत्वरूप साक्षीभाव एवं अभोक्तृत्व रूप साक्षीभाव को समझाया जा रहा है ।।३८-३९।।

इसप्रकार कर्तृनय और अकर्तृनय की चर्चा के उपरान्त अब भोक्तृनय और अभोक्तृनय की चर्चा करते हैं –

"आत्मद्रव्य भोक्तृनय से हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी के समान सुख-दु:खादि का भोक्ता है और अभोक्तनृत्य से हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी को देखनेवाले वैद्य के समान केवल साक्षी ही है ।।४०-४१ ।।"

जिसप्रकार यदि कोई रोगी हितकारी अन्न को खाता है तथा वैद्य के बताये अनुसार पथ्य का सेवन करता है तो सुख भोगता है और यदि अहितकारी अन्न को खाता है तथा कुपथ्य का सेवन करता है तो दु:ख भोगता है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भोक्तृनय से अपने सदाचरण-दुराचरण से उत्पन्न सुख-दु:ख को, हर्ष-शोक को भोगता है।

तथा जिसप्रकार हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले, पथ्य-कुपथ्य का सेवन करनेवाले रोगी को देखनेवाला वैद्य उसके सुख-दु:ख को भोगता तो नहीं है, परन्तु साक्षीभाव से जानता अवश्य है; ठीक उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भी अभोक्तृनय से अपने में उत्पन्न सुख-

(४२-४३) क्रियानय और ज्ञाननय

क्रियानयेन स्थाणुभिन्नमूर्धजातदृष्टिलब्धनिधानान्धवदनुष्ठान-प्राधान्यसाध्यसिद्धिः ॥४२॥ ज्ञाननयेन चणकमुष्टिक्रीतचिन्तामणिगृह-कोणवाणिजवद्विवेकप्राधान्यसाध्यसिद्धिः ॥४३॥

दु:ख को, हर्ष-शोक को भोगता तो नहीं, पर साक्षीभाव से जानता अवश्य है।

अनन्तधर्मात्मक इस भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक भोक्तृ नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा अपनी भूल से अपने में ही उत्पन्न होनेवाले सुख-दु:ख एवं हर्ष-शोक को भोगता है और एक अभोक्तृ नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा अपने में उत्पन्न होनेवाले सुख-दु:ख एवं हर्ष-शोक को भोगता तो नहीं, मात्र साक्षीभाव से जानता-देखता ही है।

भगवान आत्मा के इन भोक्तृ और अभोक्तृ धर्मों को विषय बनानेवाले नय ही क्रमश: भोक्तृनय और अभोक्तृनय हैं। शेष सब कर्तृनय और अकर्तृनय के प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है, तदनुसार इन भोक्तृनय और अभोक्तृनय के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए; क्योंकि कर्तृत्व और भोक्तृत्व का स्पष्टीकरण सर्वत्र समान ही पाया जाता है।

इन कर्तृ-अकर्तृ और भोक्तृ-अभोक्तृ नयों का प्रतिपाद्य मात्र इतना ही कि यह भगवान आत्मा राग-द्वेषादि भावों को करता भी है और उनके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले सुख-दु:ख को भोगता भी है तथा इन सबका साक्षीभाव से ज्ञाता-द्रष्टा भी रहता है; अत: कर्ता-भोक्ता के साथ-साथ अकर्ता-अभोक्ता भी है ॥४०-४१॥

इसप्रकार भोक्तृनय और अभोक्तृनय की चर्चा के उपरान्त अब क्रियानय और ज्ञाननय की चर्चा करते हैं –

"आत्मद्रव्य, क्रियानय से खम्भे से टकरा जाने से सिर फूट जाने पर दृष्टि उत्पन्न होकर निधान मिल गया है जिसे – ऐसे अंधे के समान, अनुष्ठान

की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है और ज्ञाननय से, मुट्ठी भर चने देकर चिन्तामणि रत्न खरीद लेनेवाले घर के कोने में बैठे हुए व्यापारी के समान, विवेक की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है।।४२-४३।।"

एक अंधा व्यक्ति सहज धार्मिक भावना से प्रेरित होकर मन्दिर जा रहा था। रास्ते में अचानक वह एक खम्भे से टकरा गया, जिससे उसका सिर फूट गया और बहुत-सा खराब खून निकाल जाने से उसे एकदम स्पष्ट दिखाई देने लगा, उसका अन्धापन समाप्त हो गया। खम्भे से टकराने से उसका सिर तो फूटा ही, साथ ही वह खम्भा भी टूट गया। उस खम्भे में किसी ने खजाना छुपा रखा था। खम्भे के टूटने से उसे वह खजाना भी सहज ही प्राप्त हो गया।

यद्यपि उस अंधे व्यक्ति ने खजाना और दृष्टि प्राप्त करने के लिए विवेकपूर्वक कुछ भी प्रयत्न नहीं किया था, वह तो सहज ही धार्मिक भावना से प्रेरित होकर मन्दिर जा रहा था; तथापि बिना बिचारे ही सहज ही उसी खम्भे से टकराने की क्रिया सम्पन्न हो गई, जिसमें खजाना छुपा हुआ था और उसे दुहरा लाभ प्राप्त हो गया - खजाना भी मिल गया और नेत्रज्योति भी प्राप्त हो गई।

उक्त उदाहरण के माध्यम से यहाँ क्रियानय का स्वरूप समझाया गया है।

जिसप्रकार उक्त अंधे पुरुष को बिना समझे-बूझे ही मात्र क्रिया सम्पन्न हो जाने से सिद्धि प्राप्त हो गई, दृष्टि और निधि प्राप्त हो गई; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भी क्रियानय से अनुष्ठान की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है।

तात्पर्य यह है कि क्रियानय से इस आत्मा की मुक्ति मुक्तिमार्ग में चलनेवाले साधक जीवों के योग्य होनेवाली आवश्यक क्रियाओं के अनुष्ठान की प्रधानता से होती है।

अब मुट्ठी भर चनों में चिन्तामणि खरीद लेनेवाले व्यापारी का

उदाहरण देकर ज्ञाननय का स्वरूप समझाते हैं - एक लकड़हारे को जंगल में पड़ा हुआ एक चिन्तामणि रत्न प्राप्त हो गया। लकड़हारा उसकी कीमत तो जानता नहीं था, उसकी दृष्टि में तो वह एक चमकीला पत्थर मात्र था। उस चिन्तामणि रत्न को लेकर वह लकड़हारा अपने घर के कोने में बैठे एक व्यापारी के घर पहुँचा और उस व्यापारी से बोला-

"सेठजी ! यह चमकीला पत्थर खरीदोगे ?"

रत्नों के पारखी सेठजी चिन्तामणि को देखकर मंत्रमुग्ध हो गये; वे उसे एकटक देखते ही रहे कुछ भी न बोल सके।

सेठजी के मौन से व्याकुल लकड़हारा बोला -

"क्यों क्या बात है ? खरीदना नहीं है क्या ?"

जागृत हो सेठजी कहने लगे -

"खरीदना क्यों नहीं है ? खरीदेंगे, अवश्य खरीदेंगे। बोलो, क्या लोगे?"

"दो मुट्ठी चने से कम में तो किसी हालत में नहीं दूँगा" -

- अकड़ता हुआ लकड़हारा बोला तो अचंभित होते हुए सेठजी के मुँह से निकला - "बस, दो मुट्ठी चने !"

"हाँ, दो मुट्ठी चने।"

सेठजी ने अपने को सँभाला और कहने लगे :-

"दो मुट्ठी चने तो बहुत होते हैं; एक मुट्ठी चने में नहीं दोगे ?"

यद्यपि सेठजी दो मुट्ठी चने तो क्या, दो लाख स्वर्णमुद्राएँ भी दे सकते थे; तथापि उन्हें भय था कि एकदम 'हाँ' कर देने से काम बिगड़ सकता है; अत: उन्होंने एक मुंट्ठी चने की बात सोच-समझकर हिलाने-डुलाने के लिए ही कही थी; पर लकड़हारा बोला -

"अच्छा लाओ, एक मुट्ठी चने ही सही इस मुफ्त के पत्थर के।"

इसप्रकार वह अमूल्य चिन्तामणि रत्न उन सेठजी को अपने घर के

कोने में बैठे-बैठे बिना कुछ किये विवेक के प्रयोग से सहज ही उपलब्ध हो गया।

उक्त उदाहरण के माध्यम से यहाँ ज्ञाननय को समझाया गया है।

जिसप्रकार घर के कोने में बैठे-बैठे ही सेठ ने अपने विवेक के बल से मात्र मुट्ठी भर चनों में चिन्तामणि रत्न को प्राप्त कर लिया; उसीप्रकार ज्ञाननय से यह भगवान आत्मा विवेक की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञाननय से इस आत्मा की मुक्ति विवेक की प्रधानता पर आधारित है।

उक्त कथन का आशय यह कदापि नहीं है कि किसी को क्रिया से मुक्ति प्राप्त होती है और किसी को ज्ञान से। जब भी किसी जीव को मुक्ति प्राप्त होती है, तब दोनों ही कारण विद्यमान रहते हैं; क्योंकि अनन्त धर्मात्मक इस भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक क्रिया नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा अनुष्ठान की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है और एक ज्ञान नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा विवेक की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है। इन क्रियाधर्म और ज्ञानधर्म को विषय बनानेवाले नय की क्रमशः क्रियानय और ज्ञाननय हैं।

यद्यपि इस बात को विगतनयों की चर्चा में अनेक बार स्पष्ट किया जा चुका है कि यहाँ भिन्न-भिन्न आत्माओं की बात नहीं है अपितु एक ही आत्मा में उक्त दो-दो के जोड़ेवाले नयों को घटित करना है; तथापि 'प्रधानता' शब्द का प्रयोग कर यहाँ क्रियानय और ज्ञाननय के प्रकरण में तो अतिरिक्त सावधानी बरती गई है।

यहाँ 'क्रिया' या 'अनुष्ठान' शब्द से शुद्धभाव के साथ रहनेवाला शुभभाव एवं तदनुसार आचरण अपेक्षित है तथा 'विवेक' शब्द से शुद्धभाव अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अपेक्षित है।

(४४-४५) व्यवहारनय और निश्चयनय

व्यवहारनयेन बन्धकमोचकपरमाण्वन्तरसंयुज्यमानवियुज्यमान-परमाणुवद्बन्धमोक्षयोर्द्वैतानुवर्ति ।।४४।। निश्चयनयेन केवलबध्यमान-मुच्यमानबन्धमोक्षोचितस्निग्धरुक्षत्वगुणपरिणतपरमाणुवद्बन्धमोक्ष-योरद्वैतानुवर्ति ।।४५।।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि जब भगवान आत्मा साधकदशा में होता है, तब उसके भूमिकानुसार निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभाव भी होता है और शुभभावरूप रागभाव भी रहता है तथा उसका आचरण भी भूमिकानुसार होता ही है।

मुक्ति की प्राप्ति के कारणों के संदर्भ में जब नयविभाग से चर्चा होती है तो कहा जाता है कि ज्ञाननय से मुक्ति की प्राप्ति विवेक (रत्नत्रय रूप वीतरागभाव) की प्रधानता से होती है और क्रियानय से अनुष्ठान (महाव्रतादि के शुभभाव एवं महाव्रतादि के पालनरूप क्रिया) की प्रधानता से होती है। **तात्पर्य यह है कि मुक्ति के मार्ग में उपस्थिति तो दोनों कारणों की अनिवार्य रूप से होती है, पर ज्ञाननय से विवेक को प्रधानता प्राप्त है और क्रियानय से अनुष्ठान को प्रधानता प्राप्त है ।। ४२-४३ ।।**

ज्ञाननय और क्रियानय की चर्चा के उपरान्त अब व्यवहारनय और निश्चयनय की चर्चा करते हैं –

"आत्मद्रव्य व्यवहारनय से अन्य परमाणु के साथ बँधनेवाले एवं उससे छूटनेवाले परमाणु के समान बंध और मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करनेवाला है और निश्चयनय से बंध और मोक्ष के योग्य स्निग्ध और रूक्ष गुणरूप से परिणत बध्यमान और मुच्यमान परमाणु के समान बंध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है ।।४४-४५ ।।"

कोई भी पुद्गलपरमाणु जब बँधता या छूटता है तो उसमें अन्य पुद्गल-परमाणुओं की अपेक्षा अवश्य होती है। यही तो कहा जाता है

कि यह परमाणु इस परमाणु से बँधा या इस परमाणु से छूटा। इसीप्रकार इस भगवान आत्मा के बँधने या मुक्त होने के प्रसंग में कर्म की अपेक्षा आती है। बँधने में तो कर्म की अपेक्षा है ही, छूटने में भी कर्म की अपेक्षा होती है; क्योंकि जिसप्रकार यह कहा जाता है कि कर्मों से बँधा, उसीप्रकार यह भी कहा जाता है कि कर्मों से छूटा।

इसप्रकार बँधने और छूटने दोनों में ही कर्म की अपेक्षा रहती है।

बंध और मोक्ष - इन दोनों में ही आत्मा और कर्म - इन दोनों की अपेक्षा आने के कारण कहा गया है कि यह भगवान आत्मा व्यवहारनय से बंध और मोक्ष द्वैत का अनुसरण करनेवाला है।

यदि निश्चय से विचार करें तो जिसप्रकार प्रत्येक परमाणु बँधने और छूटने योग्य अपने स्निग्ध और रूक्षत्व गुण के कारण स्वयं अकेला ही बँधता और छूटता है। उसके बँधने और छूटने में अन्य कोई कारण नहीं है; उसीप्रकार निश्चयनय से यह भगवान आत्मा स्वयं अपनी योग्यता से ही बँधता-छूटता है, उसे बंधन एवं मुक्ति में अन्य की अपेक्षा नहीं है।

इसीलिए यहाँ कहा गया है कि निश्चयनय से यह भगवान आत्मा बंध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है।

इस अनन्त धर्मात्मक भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक व्यवहार नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा बंध और मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करता है और एक निश्चय नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा बंध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करता है। भगवान आत्मा के इन व्यवहारधर्म और निश्चयधर्म को विषय बनाने वाले नयों को क्रमशः व्यवहारनय और निश्चयनय कहते हैं।

व्यवहार और निश्चयनयों की जो परिभाषाएँ अन्य प्रकरणों में

(४६-४७) अशुद्धनय और शुद्धनय

अशुद्धनयेन घटशरावविशिष्टमृण्मात्रवत्सोपाधिस्वभावम् ।।४६।। शुद्धनयेन केवलमृण्मात्रवन्निरूपाधिस्वभावम् ।।४७।।

आती हैं, उनसे इन व्यवहार-निश्चयनयों का कोई संबंध नहीं है, उन्हें इन पर घटित करना उचित नहीं है; क्योंकि ये नय तो भगवान आत्मा के अनन्तधर्मों में से एक-एक धर्म को विषय बनानेवाले एक-एक नय हैं।।४४-४५।।

व्यवहारनय और निश्चयनय की चर्चा के उपरान्त अब अशुद्धनय और शुद्धनय की चर्चा करते हैं –

"आत्मद्रव्य अशुद्धनय से घट और रामपात्र से विशिष्ट मिट्टी मात्र के समान सोपाधिस्वभाववाला है और शुद्धनय से केवल मिट्टी के समान निरुपाधिस्वभाववाला है।।४६-४७।।"

जिसप्रकार मिट्टी अपने सोपाधिस्वभाव के कारण घट, रामपात्र आदि पर्यायों में परिणमित होती है और निरुपाधिस्वभाव के कारण मिट्टीरूप ही रहती है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भी अपने सोपाधि स्वभाव के कारण रागादिरूप परिणमित होता हुआ अशुद्ध होता है और निरुपाधिस्वभाव के कारण सदा शुद्ध ही रहता है।

अनन्तधर्मात्मक इस भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक अशुद्ध नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा विकारी भावरूप परिणमित होता है और एक शुद्ध नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा सदा एकरूप ही रहता है। इन अशुद्ध और शुद्ध धर्मों को सोपाधिस्वभाव और निरुपाधिस्वभाव भी कहते हैं। भावरूप परिणमित होना ही सोपाधिस्वभाव है और सदा एकरूप रहना ही निरुपाधिस्वभाव है।

इसप्रकार यह भगवान आत्मा अशुद्ध भी है और शुद्ध भी है।

अशुद्धधर्म के कारण रागादिरूप परिणमित होता है; अत: अशुद्ध है और शुद्धधर्म के कारण सदा एकरूप रहता है; अत: शुद्ध है।

इसे इसप्रकार भी कह सकते हैं कि यह भगवान आत्मा अशुद्धनय से सोपाधिस्वभाववाला है और शुद्धनय से निरुपाधिस्वभाववाला है।

भगवान आत्मा के इन सोपाधिस्वभाव व निरुपाधिस्वभाव अर्थात् अशुद्धधर्म व शुद्धधर्म को विषय बनानेवाले नय ही क्रमश: अशुद्धनय व शुद्धनय हैं।

अशुद्धनय के माध्यम से यहाँ यह कहा जा रहा है कि आत्मा में उत्पन्न होनेवाले रागादि विकारीभाव भी पर के कारण उत्पन्न नहीं होते, उनकी उत्पत्ति के कारण भी आत्मा में ही विद्यमान हैं। यदि आत्मा में अशुद्धधर्म नामक धर्म नहीं होता तो दुनिया की कोई भी शक्ति उसे रागादिभावरूप परिणमित नहीं करा सकती थी।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यह भगवान आत्मा अशुद्धनय से सोपाधिस्वभाववाला अर्थात् अशुद्ध है और शुद्धनय से निरुपाधि-स्वभाववाला अर्थात् शुद्ध है।

इसप्रकार यह भगवान आत्मा शुद्ध भी है और अशुद्ध भी है।

इसप्रकार ४७ धर्मों के माध्यम से भगवान आत्मा का स्वरूप स्पष्ट करनेवाले ४७ नयों का संक्षिप्त स्वरूप कहा।

●●●

डॉ. भारिल्ल के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

समयसार : ज्ञायकभावप्रबोधनी टीका	५०.००	मैं कौन हूँ	५.००
समयसार अनुशीलन भाग-१	२५.००	निमित्तोपादान	३.५०
समयसार अनुशीलन भाग-२	२०.००	अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	३.००
समयसार अनुशीलन भाग-३	२०.००	मैं स्वयं भगवान हूँ	४.००
समयसार अनुशीलन भाग-४	२०.००	रीति-नीति	३.००
समयसार अनुशीलन भाग-५	२५.००	शाकाहार	२.५०
समयसार का सार	३०.००	भगवान ऋषभदेव	४.००
प्रवचनसार : ज्ञायकभावप्रबोधिनी टीका	५०.००	तीर्थंकर भगवान महावीर	२.५०
प्रवचनसार अनुशीलन भाग-१	३५.००	चैतन्य चमत्कार	४.००
प्रवचनसार अनुशीलन भाग-२	३५.००	गोली का जवाब गाली से भी नहीं	२.००
प्रवचनसार अनुशीलन भाग-३	(प्रेस में)	गोम्मटेश्वर बाहुबली	२.००
प्रवचनसार का सार	३०.००	वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	२.००
४७ शक्तियाँ और ४७ नय	८.००	अनेकान्त और स्याद्वाद	२.००
पण्डित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व	२०.००	शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर	१.५०
परमभावप्रकाशक नयचक्र	२०.००	बिन्दु में सिन्धु	२.५०
जिनवरस्य नयचक्रम्	१०.००	पश्चात्ताप खण्डकाव्य	७.००
चिन्तन की गहराइयाँ	२०.००	बारह भावना एवं जिनेंद्र वंदना	२.००
तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	१५.००	कुंदकुंदशतक पद्यानुवाद	२.००
धर्म के दशलक्षण	१६.००	शुद्धात्मशतक पद्यानुवाद	१.००
क्रमबद्धपर्याय	१५.००	समयसार पद्यानुवाद	३.००
बिखरे मोती	१६.००	योगसार पद्यानुवाद	०.५०
सत्य की खोज	१६.००	समयसार कलश पद्यानुवाद	३.००
अध्यात्मनवनीत	१५.००	प्रवचनसार पद्यानुवाद	३.००
आप कुछ भी कहो	१०.००	द्रव्यसंग्रह पद्यानुवाद	१.००
आत्मा ही है शरण	१५.००	अष्टपाहुड़ पद्यानुवाद	३.००
सुक्ति-सुधा	१८.००	अर्चना जेबी	१.००
बारह भावना : एक अनुशीलन	१२.००	कुंदकुंदशतक (अर्थ सहित)	१.२५
दृष्टि का विषय	१०.००	शुद्धात्मशतक (अर्थ सहित)	१.००
गागर में सागर	७.००	बालबोध पाठमाला भाग-२	३.००
पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव	१०.००	बालबोध पाठमाला भाग-३	३.००
णमोकार महामंत्र : एक अनुशीलन	१०.००	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-१	४.००
रक्षाबन्धन और दीपावली	५.००	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-२	४.००
आचार्य कुंदकुंद और उनके पंचपरमागम	५.००	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-३	४.००
युगपुरुष कानजीस्वामी	५.००	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-१	५.००
वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	१५.००	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-२	६.००

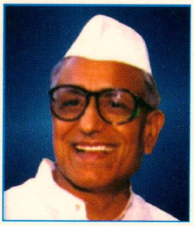

डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का नाम आज जैन समाज के उच्च कोटि के विद्वानों में अग्रणीय है।

ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी वि. स. 1992 तदनुसार शनिवार, दिनांक 25 मई 1935 को ललितपुर (उ.प्र.) जिले के बरौदास्वामी ग्राम के एक धार्मिक जैन परिवार में जन्मे डॉ. भारिल्ल; शास्त्री, न्यायतीर्थ साहित्यरत्न तथा एम.ए., पी-एच.डी. हैं। समाज द्वारा विद्यावारिधि, महामहोपाध्याय, विद्यावाचस्पति, परमागमविशारद, तत्ववेत्ता, अध्यात्मशिरोमणि, वाणीविभूषण, जैनरत्न, आदि अनेक उपाधियों से समय-समय पर आपको विभूषित किया गया है।

सरल, सुबोध, तर्कसंगत एवं आकर्षक शैली के प्रवचनकार डॉ. भारिल्ल आज सर्वाधिक लोकप्रिय आध्यात्मिक प्रवक्ता हैं। उन्हें सुनने देश-विदेश में हजारों श्रोता निरन्तर उत्सुक रहते हैं। आध्यात्मिक जगत में ऐसा कोई घर न होगा, जहाँ प्रतिदिन आपके प्रवचनों के कैसेट न सुने जाते हों तथा आपका साहित्य उपलब्ध न हो। धर्म प्रचारार्थ आप पच्चीस बार विदेश यात्रायें भी कर चुके हैं।

जैनजगत में सर्वाधिक पढ़े जाने वाले डॉ. भारिल्ल ने अब तक छोटी-बड़ी 70 पुस्तकें लिखी हैं और अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया है, जिनकी सूची अन्दर प्रकाशित की गई। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि अब तक आठ भाषाओं में प्रकाशित आपकी कृतियाँ 42 लाख से भी अधिक की संख्या में जन-जन तक पहुँच चुकी हैं।

सर्वाधिक बिक्री वाले जैन आध्यात्मिक मासिक 'वीतराग-विज्ञान' हिन्दी तथा मराठी के आप सम्पादक हैं। श्री टोडरमल स्मारक भवन की छत के नीचे चलने वाली विभिन्न संस्थाओं की समस्त गतिविधियों के संचालन में आपका महत्वपूर्ण योगदान है।

वर्तमान में आप श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद के अध्यक्ष तथा पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर के महामंत्री हैं।